ओ३म्

जन्म-जीवन-मृत्यु

लेखक :—
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
सत्यधर्म प्रकाशन
चलभाष : 08930737619, 09812560233

प्रकाशकीय

जन्म, जीवन और मृत्यु, ये तीनों जीवन की सच्चाइयां हैं। जब से यह सृष्टि बनी है तब से इन तीनों का अस्तित्व है और जब तक सृष्टि रहेगी अस्तित्व बना रहेगा। ये तीनों ही सत्य मनुष्य के अधीन नहीं हैं, इन पर मनुष्य का न तो वश है और न ज्ञान है। वह इनके यथार्थ को जानना चाहता है। आदिकाल से ही हमारे ऋषि-मुनियों तथा संसार के अन्य चिन्तकों ने इनके रहस्य को खोजने की कोशिशें की हैं और उन पर प्रकाश डाला है किन्तु मानव की इस विषयक जिज्ञासा समाप्त नहीं हुई है।

स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने इस पुस्तक में इन तीनों विषयों पर दार्शनिक आधार पर वेदों, गीता आदि के प्रमाण देकर पर्याप्त प्रकाश डाला है और इनके स्वरूप को मानवों के सामने रखा है। इन विषयक जिज्ञासाओं के समाधान के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। संक्षेप में बहुत ही तथ्यपूर्ण जानकारी इस पुस्तक में दी गई है।

व्यावहारिक दृष्टि से संसार में जन्म और जीवन, हर्ष के विषय हैं। इनके होने पर परिवार-समाज में खुशियां मनाई जाती हैं, किन्तु अकाल या काल मृत्यु जब उस जीवन को निगल लेती है तो मनुष्य रोता-पीटता है, समाज के लोग मिलकर विलाप करते हैं किन्तु उस पर किसी का वश नहीं चलता, यह एक शाश्वत सत्य है। ऐसी स्थिति में मृत्यु के वास्तविक स्वरूप को समझकर मन को संतुलित रखना ही दुःख से बचने का उपाय है। वह सब जानकारी इस पुस्तक से पाठकों को मिलेगी।

—आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
१.	सृष्टि-रचना	५
२.	विकासवाद	७
३.	जन्म	१३
४.	जीवन	२१
५.	कर्म करते हुए जीना	२८
६.	कैसे जियें?	३८
७.	मृत्यु	४४
८.	मृत्यु को कैसे जीतें?	८१
९.	जीवन और मृत्यु	८८
१०.	जीवन यात्रा	९२

॥ ओ३म् ॥

सृष्टि रचना

प्रत्यक्ष से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं—चाहे वह ऐन्द्रिक हो अथवा मानस या आध्यात्मिक। जगत् की यथार्थता जो प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, शास्त्र द्वारा अन्यथा सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तुतः शास्त्र का प्रामाण्य भी इसी तथ्य के आधार पर माना गया है कि वह कभी न कभी हुए किसी न किसी के साक्षात् अनुभव का ही व्याख्यान होता है। इसलिए **'शास्त्रप्रत्यक्षयोर्न विरोधः'**—प्रत्यक्ष तथा शास्त्र एक-दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते।

संसार में जड़ व चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। तब इन दोनों से निर्मित जगत् कैसे मिथ्या हो सकता है? उसके अस्तित्व को नकारना अपने अनुभव को नकारना है। जो व्यक्ति बैठा हुआ भोजन कर रहा है और उसके फलस्वरूप तृप्ति भी अनुभव कर रहा है, वह यदि यह कहे कि न मैं भोजन कर रहा हूं और न मेरी भूख शान्त हो रही है, तो उसकी बात का कौन विश्वास करेगा? जो व्यक्ति (जैसे, नवीन वेदान्ती) संसार को मिथ्या मानता है, उसे भी पर्वत, जंगल, नदियां, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि सब वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे संसार को यथार्थ मानने वाले को। अपने-अपने स्थान पर जड़ व चेतन दोनों सत्य हैं और इस कारण जगत् भी सत्य है।

प्रत्येक कार्य के लिए तीन का होना आवश्यक है। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योग २।१८) के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है। यदि भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है। भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने और दोनों का नियमन करने वाली सत्ता का होना भी आवश्यक है। किसी पदार्थ का उपादान कारण अचेतन तत्व होता है। चेतन केवल कर्त्ता या भोक्ता होता है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए है। इस प्रकार परमात्मा केवल प्रकृति का नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है। श्वेताश्वर उपनिषद् में इन तीन सत्ताओं का उल्लेख **'भोग्यं भोक्ता प्रेरयितारञ्च'** (१।१२) कहकर किया गया है। ईश्वर तो क्या, कोई सामान्य पुरुष भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। खाने वाला कोई न हो तो कौन भोजन बनाने बैठेगा? ईश्वर के

पूर्ण तथा आप्तकाम होने से सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करने के लिए उससे भिन्न कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, अन्यथा सृष्टि रचना निष्प्रयोजन होगी। इस भोक्ता की संज्ञा 'जीव' है। यदि खाने को कुछ न हो तो खाने वालों को कौन घर में बुला कर बिठायेगा? भोग्य रूप में प्रस्तुत 'प्रकृति' है जो जड़ होने से भोक्ता नहीं हो सकती। कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं होती। कर्त्तव्य चेतन का धर्म है इसलिए अचेतन तत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। उसे गति देने और नियन्त्रित करने के लिए किसी सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् पुरुष-विशेष का होना नितान्त आवश्यक है। वही 'ईश्वर' कहाता है। इस प्रकार सृष्टि रचना में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों कारण हैं।★ इनमें से किसी एक के न होने पर जगत्सर्ग न होता। ये तीनों अनादि-अनन्त अर्थात् नित्य हैं।

सृष्टिक्रम—जैवी सृष्टि से पूर्व जीवों के लिए अपेक्षित सामग्री का होना आवश्यक है। प्यास लगने पर कुआ खोदना बुद्धिमत्ता नहीं। इस व्यवस्था के अनुसार पहले औषधि-वनस्पति, फिर पशु-पक्षी (कृमि से हाथी पर्यन्त) और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए। प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व इस धरती पर वायु, जल, लता, औषधि, वनस्पति, फल, मूल आदि भोज्य पदार्थ, सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध थे। इनके बिना प्राणी मात्र के लिए धरती पर रहना संभव न था। यजुर्वेद (३१।६) के अनुसार **'संभृतं पृषदाज्यं पशुंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्यांश्च ये'** अर्थात् परमेश्वर ने पहले दही आदि भोज्य पदार्थों तथा वायु में गमन करने वाले पक्षियों, सिंह, व्याघ्रादि वनैले पशुओं और गांवों में रहने वाले गाय, घोड़े आदि पशुओं को उत्पन्न किया। इस प्रकार जड़ जगत् की रचना पूर्ण होने पर चेतन जगत् की और चेतन में भी क्रमशः सादी, क्लिष्ट और क्लिष्टतम प्राणियों की सृष्टि हुई।

सृष्टि रचना का यह विवरण कालक्रम की दृष्टि से किया है। इसमें तथाकथित विकासवाद का लेशमात्र संकेत नहीं है। विविध योनियां एक ही देह से प्रारम्भ होकर उसी के विभिन्न रूप नहीं हैं, अपितु आदिकाल से ही सब अपने वर्तमान रूप में चली आ रही हैं।

★ Etemal trinity is the basis of all creation. It answers the three questions: creation by whom, creation for whom and creation whence? Reality is not one, but two. Two here means more than one. C.E.M. Joad : Matter, Life and Value, P. 71

विकासवाद

परमेश्वर सृष्टि का रचयिता, नियामक तथा प्रेरक है। उसी ने विविध नामरूपयुक्त प्राणियों की सृष्टि की है। आज जो लाखों प्रकार के देहधारी प्राणी दिखाई पड़ रहे हैं—कृमि से लेकर हाथी और मनुष्य पर्यन्त, वे सब सृष्टि के आदि काल से साजात्य-प्रजनन के द्वारा इसी रूप में चले आ रहे हैं। सभी की स्वतन्त्र सत्ता है, मूल में किसी एक योनि की शाखा-प्रशाखा नहीं है। यजुर्वेद (३१।८) में स्पष्ट लिखा है—

तस्मादश्वाऽजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽजावयः।।

'तस्मादिति परमेश्वरात् (दयानन्दः), ब्रह्मणः (महीधरः); उभयादतः=ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ता गर्दभादयोऽश्वतराश्च। छान्दसं दीर्घत्वम्।

अर्थात्-घोड़े आदि दो जबड़ों वाले, बकरी-भेड़ आदि सब पशु उस परमेश्वर से (तस्मात्=परमेश्वरात्) उत्पन्न हुए, एक दूसरे से नहीं। आगे नवें मन्त्र में मनुष्यों (**साध्याश्च ऋषयश्च**) की उत्पत्ति भी ईश्वर द्वारा की गई है। इस तरह प्रकारान्तर से वेद में सर्ग के आदि में अमैथुनी सृष्टि में ही विभिन्न योनियों में एक-दूसरे की अपेक्षारहित प्राणिमात्र की सृष्टि का वर्णन किया गया है।

इसके विपरीत आधुनिक विद्वानों के अनुसार सब प्रकार के जीवित प्राणी एक ही जाति के आद्य वंशजों से सन्तति-उपसन्तति द्वारा उत्पन्न हैं। इसके वर्तमान रूप परिस्थितिजन्य हैं। इस मत के अनुसार सर्वप्रथम एककोश वाले प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे उसी के विलक्षण विकास के परिणामस्वरूप अनेकानेक कोशयुक्त देहों का प्रादुर्भाव होता गया। सभी प्राणी अपने से पूर्व अवनत रूपों का उन्नत अथवा परिष्कृत संस्करण हैं। जब जीवन की दशाओं के किसी व्यक्ति का कोई अंग निकम्मा हो जाता है तो स्वाभाविक निर्वचन और निकम्मापन दोनों मिल कर उसके नष्ट होने अथवा चिह्नमात्र रह जाने का कारण बन जाते हैं।★ इसी प्रकार प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियां हैं जो

★ American scientists predicted that a time might come when american babies might be born without legs, for in the history of evolution of animals it has been that any organ which is not used for prolonged periods may dropout of the system. _Russia Revisited by K.P. Menon.

उसके नये अंगों के विकास तथा परिवर्तन का कारण बनती हैं। भोजन के लिए प्रयास, शत्रुओं से रक्षा और प्रकृति के अनुकूल अपने को ढालने के परिणामस्वरूप शरीरों में परिवर्तन होता गया और इस प्रकार विभिन्न योनियों के रूप में प्राणी बंट गया। अभिप्राय यह है कि आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्यकताजन्य इच्छा और उसको पूरा करने का चिरकालीन अभ्यास आकृति-परिवर्तन का मूल कारण है। किन्तु एक कोष वाले प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया। वस्तुतः सृष्टि के आदि में जिस प्रकार एक कोश के देह की रचना हो जाती है, वैसे ही अनेक कोशयुक्त देह की भी रचना संभव है। सभी विशिष्ट देहों की रचना अपनी नियत इकाइयों अर्थात् उपादान कारणों से स्वतन्त्र रूप में होती है। कार्य-कारण भाव से अमीबा का प्रादुर्भाव अमैथुनी सृष्टि है वैसे ही अनेक कोशयुक्त देहों के प्राणियों की सृष्टि भी अमैथुनी है। आगे सजातीय नियमों के अनुसार ही सृष्टि चलती है।

क्रमिक विकास में प्राणी की आवश्यकताजन्य इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थ किए गए अभ्यास के कारण होने वाले आकृति-परिवर्तन के सन्दर्भ में जिराफ का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। अफ्रीका में बहुत लम्बी गर्दन वाला जिराफ नामक एक पशु पाया जाता है। कहते हैं कि पहले इसकी गर्दन इतनी लम्बी नहीं होती थी। ऊंचे वृक्षों पर लगे पत्तों तक पहुंचने के लिए अपनी गर्दन को ऊंचा उठाते रहने के कारण कालान्तर में उसकी गर्दन लम्बी हो गई। दस-बीस या सौ-पचास वर्षों के अभ्यास से तो यह संभव नहीं। लाखों-करोड़ों वर्ष लगने चाहिएं। इतनी लम्बी अवधि में तो भौतिक परिस्थितियों में बहुत उलट-फेर हो जाता है। प्राणी की आवश्यकता और उसकी स्थिति भी लाखों-करोड़ों वर्षों तक वैसी ही बनी रहे, यह भी संभव नहीं दीखता। फिर वृक्षों के पत्तों को खाने वाले और भी प्राणी हैं। उन सबकी गर्दनें क्यों नहीं लम्बी हो गई ? हम देखते हैं कि बकरी पहले नीचे लगे पत्तों को चुगती है और पेड़ के तनों और टहनियों पर अगले पैर टिकाकर, जहां तक उसका मुंह पहुंच पाता है, वहां के पत्ते कुतर लेती है। इसी तरह वह लाखों-करोड़ों वर्षों से अपना पेट भरती आ रही हैं। जहां तक वह पैर टिकाकर चुग लेती है उसके ऊपर भी पत्ते रहते हैं। संभव है वह उन्हें भी चुगना चाहती हो। पर न उसकी गर्दन बढ़ी, न उसका अगला भाग लम्बा हुआ

और न उसके लिए चारे की कमी हुई, जबकि जिराफों की तुलना में बकरियों की संख्या भी कहीं अधिक है। अपनी आवश्यकता की पूर्त्यर्थ अभ्यास क्यों नहीं किया? यह अपेक्षाकृत आसान रास्ता था और बहुत जल्दी- दो चार वर्षों में ही काम बन जाता और पेड़ की चोटी तक उसकी पहुंच हो जाती। फलतः जिराफ की गर्दन लम्बी होने की कहानी कल्पना से अधिक कुछ नहीं। यदि प्रकृति पूर्वकाल में एक व्यक्ति को विकृत करने योग्य थी तो उसने अब यह काम करना क्यों बन्द कर दिया? क्रमिक विकास का सिलसिला मनुष्य पर आकर क्यों ठहर गया? मनुष्य के आगे उसका और कुछ क्यों नहीं बना?

यदि यन्त्र के विकास जैसे सिद्धान्त पर प्राणियों का विकास हुआ तो जैसे निचले स्तर के घटिया यन्त्रों का निर्माण बन्द होकर (मोटर, साइकल, पंखे, विमान, घड़ियां आदि) केवल अन्तिम विकसित नमूने के ही बनाये जाते हैं, वैसे ही विकास की अन्तिम सीढ़ी पर पहुंचे हुए केवल मनुष्य की सृष्टि में रह जाने चाहिएं थे।

जीवन संग्राम में यदि योग्यतम ही बचे रह जाते हैं (Survival of the fittest) तो क्या कारण है कि मछली से रूपान्तर होते-होते योग्यतम एवं श्रेष्ठतम प्राणी मनुष्य के बन जाने पर भी जितने छोटे कीट, कृमि, मछली, चूहे, बिल्ली आदि हैं, जो संख्या में बहुत अधिक हैं और योग्यतम माने जाने वाले मनुष्य से तो प्रायः (हाथी, कंगारू, शेर आदि) कुछ प्राणियों को छोड़कर सभी प्राणी अधिक हैं। निर्बल होने के कारण मनुष्य से नीचे की तो सभी जातियां कभी स्वतः नष्ट हो जानी चाहिएं थीं। मनुष्य को बल में हाथी, घोड़े और शेर ने परास्त कर दिया। आयु में कछुए और सांप ने पछाड़ दिया। कारीगरी, परिश्रम, संचय, प्रबन्ध और अनुशासन की दृष्टि से मधुमक्खी अपने से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाने वाले प्राणियों से कहीं श्रेष्ठ है। बौद्धिक स्तर पर विद्वानों की अपेक्षा मूर्खों की संख्या कहीं अधिक है।

आज भी मछली से मछली, बन्दर से बन्दर, चिड़िया से चिडिया ही पैदा होती है। ये अपने अनेक पूर्वजों की भांति मनुष्य क्यों नहीं बन गए? न कभी छिपकली के अण्डे में से गिलहरी निकली देखी गई और न कभी बन्दर या चिंपाजी से मनुष्य का जन्म देखा-सुना गया। मनुष्य और वनमानुष के संयोग से भी मनुष्य पैदा न हो सका।

स्वाभाविक निर्वाचन (Natural Selection) के अनुसार प्रत्येक

प्राणी 'स्वभावतः' अपने आपको योग्यतम (Fittest) बनाने का यत्न करता रहता है। फिर क्यों माता-पिता अपनी संतान की और शासन या राजा अपनी प्रजा की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करते हैं? पहाड़ों और जंगलों में रहने वाले लोग यहां तक कि पढ़े-लिखे माता-पिता के बच्चे बिना स्कूल-कॉलेज में गये विद्वान् क्यों नहीं बन जाते? सरकस में काम करने के लिए सृष्टि-उत्पत्ति के करोड़ों वर्ष बीत जाने पर भी स्वयं सीखे-सिखाये पशु क्यों नहीं मिलते।

प्रत्यक्ष में जहां उन्नति का नियम काम करता है, वहां साथ ही साथ अवनति का नियम भी काम करता है। मूर्खों की सन्तान विद्वान् और विद्वानों की सन्तान मूर्ख देखी जाती है। इसी प्रकार पापियों की सन्तान धर्मात्मा और धर्मात्माओं की सन्तान पापी देखी जाती है। यदि सन्तति अनुक्रम का सिद्धान्त ठीक होता तो उत्तरोत्तर अधिक बुद्धिमान् और धर्मात्मा ही बनते जाने चाहिएं थे। किन्तु हम देखते हैं कि जो जातियां कभी उन्नति के शिखर पर थीं और संसार के विशाल भू-भाग पर शासन करती थीं वे आज अवनत और पददलित एवं परमुखापेक्षी हैं।

यदि योग्यतम की ही विजय होती है तो परिवार में सबसे निर्बल शिशु को अपने हाल पर क्यों नहीं छोड़ दिया जाता? जीने में समर्थ होगा तो जी जायेगा। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक भी अपने बच्चों का पालन-पोषण क्यों करते हैं?

यदि परिस्थिति के अनुरूप शरीर का निर्माण होता है तो एक-सी परिस्थिति में जन्म लेने और पलने वाले भाई-बहन में बहन के मुंह पर मूंछें क्यों नहीं होतीं? हाथी और हथिनी में हथिनी में मुंह में बाहर को निकले दांत क्यों नहीं होते? मोर और मुर्गे की भांति मोरनी और मुर्गी के सुन्दर पंख और कलगी क्यों नहीं होते जबकि वे मादा हैं जिनमें सौन्दर्य विशेष अपेक्षित है।

यदि यह माना जाए कि किन्हीं पशुओं में सींगों की उत्पत्ति इसलिए हुई कि वे संघर्ष के समय बचाव के लिए हथियार की तरह उनका उपयोग कर सकें तो सभी पशुओं के सींग क्यों नहीं निकले? पशुओं की तरह मनुष्य के भी रहते तो अच्छा था। उसे अपने बचाव के लिए लाठी आदि की व्यवस्था न करनी पड़ती। यदि आत्मरक्षार्थ सींगों का विकास हुआ तो हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक जंगली

पशुओं में केवल नर के ही सींग क्यों निकले? क्या मादा को अपना बचाव नहीं करना था?

शीतप्रधान प्रदेशों में प्राणियों में रोम बढ़ना तथा उष्ण देशों में रोमों का न होना, विकासवाद के अनुसार, आकृति- परिवर्तन प्रसंग में प्राणियों कीआवश्यकता के कारण हैं। परन्तु हम देखते हैं कि अनादिकाल से उत्तरी ध्रुव और ग्रीनलैंड जैसे शान्ति प्रधान देशों में रहने वाले मनुष्यों के शरीरों पर भी भेड़ या रीछ की भांति बाल उत्पन्न न हो सके। जैसे बाल राजस्थान की भैंस के होते हैं, लगभग वैसे ही हिमालय में रहने वाली भैंसों के होते हैं। अफ्रीका के मरुस्थल में लम्बे बालों वाला रीछ और बिना बालों वाला गैंडा एक साथ रहते हैं।

नाना स्थलों में जन्तु विशेष का पाया जाना भी जातियों की स्वतन्त्र उत्पत्ति को दर्शाता है। हाथी, सिंह व मोर भारत में होते हैं, इंग्लैंड में नहीं। जिराफ अफ्रीका में और कंगारु आस्ट्रेलिया में ही होते हैं। आस्ट्रेलिया का जलवायु अनुकूल होने पर भी पहले वहां खरगोश नहीं होते थे। जब यूरोप वाले ले गये तो होने लग गये। यदि अमीबा से ही सबकी उत्पत्ति होती तो सर्वत्र सब प्रकार के पशु-पक्षी लगभग एक ही कालखण्ड में हो जाने चाहिएं थे।

मनुष्य को छोड़कर जितने प्राणी हैं उनमें किसी के भी बालों में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। गाय, घोड़ा, हाथी आदि जिस रंग के बालों के साथ पैदा होते हैं, आजीवन उसी रंग के रहते हैं। मनुष्य के निकटतम आने वाले बन्दर और वनमानुष भी सदा एक ही रंग के रहते हैं। परन्तु मनुष्य अपने जीवनकाल में प्रायः चार बार रंग बदलता है। किस परिस्थिति के कारण अथवा किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसा होता है? उसका बस चले तो कभी अपने बालों को श्वेत या पिंगल न होने दे।

घ्राण शक्ति कितने काम की है। प्राणिमात्र के लिए उसकी उपयोगिता निर्विवाद है। घ्राणशक्ति की उपयोगिता के कारण मनुष्य चोरों और हत्यारों को खोजने में सहायता के लिए कुत्ते पर आश्रित हैं। विकासक्रम में उसने अपनी इस शक्ति को क्यों और किन परिस्थितियों में गंवा दिया?

राजस्थान में पीने के लिए पानी की बड़ी विकट समस्या है। वहां रहने वाली भैंसों को तैरने का अभ्यास करने के लिए नदी-सरोवर कहां

मिलेंगे। फिर भी वहां रहने वाली भैंस तैरना नहीं भूली। पानी में प्रवेश करने का अवसर पाते ही तैरने लगेगी।

चूहों की दुम काट-काट कर बिना दुम के चूहे पैदा करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु अनेक पीढ़ियों तक परिश्रम करते रहने पर भी सफलता नहीं मिली। हिन्दुओं में लाखों वर्षों से लड़के-लड़कियों के नाक-कान छिदते चले आते हैं, यहूदियों और मुसलमानों में तीन हजार वर्ष से खतना कराते चले आ रहे हैं और न जाने कब से चीन की स्त्रियां अपने पांव छोटे करने के लिए प्रयत्नशील रही हैं। किन्तु आज तक न हिन्दुओं में कोई बालक छिदे-छिदाये कानों के साथ पैदा हुआ, न मुसलमानों व यहूदियों में खतना के साथ और न चीन में कोई स्त्री छोटे पैरों वाली पैदा हुई।

यदि आवश्यकता की पूर्त्यर्थ ही प्राणी अपने अंगों का विकास करता तथा तदनुसार अपनी आकृति ग्रहण करता रहता है तो नरों के स्तन किस लिए हैं। क्या कभी वे भी गर्भ धारण करते और बच्चों को दूध पिलाते थे। इसी प्रकार अजा के गल-स्तनों और किसी-किसी मनुष्य की छठी अंगुली का क्या प्रयोजन है? भेड़े के सींग क्यों आ जाते हैं? इन सब बातों से विकासवाद के विशिष्टावशिष्ट अंगों की कल्पना मिथ्या सिद्ध होती है।

जिस उड़ने की अधूरी विद्या से मनुष्य कृतार्थ हो रहा है, उसे पाकर पक्षियों ने क्यों खो दिया? क्या अब उनका कोई शत्रु नहीं रहा? क्या सोचकर उन्होंने अपने पैरों को नष्ट करके धरती पर विचरने वाले पशुओं का रूप धारण कर लिया? कौवे को क्या अपनी कांव-कांव अच्छी लगती होगी? क्या उसे कोयल से ईर्ष्या नहीं होती होगी? पर क्या वह अपनी आवाज को मीठी बना पाया?

चींटी के, प्रथम तो मस्तिष्क होता ही नहीं। होता भी होगा तो मनुष्य तो क्या, अनेकानेक अन्य पशु-पक्षी की तुलना में कितना बड़ा होगा। किन्तु विकासक्रम में अत्यधिक निम्न स्तर का प्राणी होने पर भी उसके बुद्धिकौशल और दूरदर्शिता को देखकर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। चींटी को आसन्न भविष्य में होने वाली वर्षा का और कुत्ते को संभावित भूकम्प आदि का आभास कैसे हो जाता है?

यदि भिन्न-भिन्न जातियों के संयोग से सन्तान होती भी है तो वह सन्तान बांझ होती है। उससे सन्तति-अनुसंतति का क्रम नहीं चलता।

गधे और घोड़े के संयोग से खच्चर उत्पन्न होता है। परन्तु खच्चर से सन्तति-अनुसन्तति का क्रम नहीं चलता। व्याघ्र और सिंह के परस्पर समागम से सन्तति हो जाती है जिसे Tigon (Tiger + Lion) कहते हैं। भेड़िये और कुत्ते के मेल से भी सन्तति होती है। शिकारी लोग इस प्रकार पैदा हुए कुत्तों को अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि उनमें कुत्ते की-सी स्वामी भक्ति और भेड़िये की-सी शक्ति तथा क्रूरता होती है। प्रस्तुत उदाहरणों में जिन दो भिन्न जातियों के मिश्रण से सन्तान होती है, वस्तुतः वे दो भिन्न जातियां न होकर एक ही जाति के विभक्त प्राणी होते हैं। उनका उद्‌गम स्थान एक ही होता है। किन्तु इनसे उत्पन्न सन्तान से वंश-परम्परा नहीं चलती। आगे चलकर यह मिश्र योनिज जाति मूल जाति के रूप की हो जाती है। अर्थात् धीरे-धीरे वह व्याघ्र की अथवा सिंह की शक्ल की हो जाती है। कलमी आम की गुठली बोने से वृक्ष पैदा होता है और उस पर फल भी लगते हैं। परन्तु इस प्रकार का कलमी आम धीरे-धीरे छोटा होता हुआ तुखमी आम के आकार का हो जाता है। विकास की खूबी तो अलग जाति उत्पन्न करके वंश परम्परा चलाने में है। प्रतिकूल परिस्थितियों में कोई जाति नष्ट भले ही हो जाये, पर उसमें ऐसा असाधारण परिवर्तन नहीं हो सकता जो उसकी नैसर्गिक जाति को बदल कर उसे कुछ का कुछ बना दे। इसलिए मनुष्य मछली आदि का विकसित रूप नहीं है, वह अनादि काल से मनुष्य के रूप में जन्म लेता रहा है।

जन्म

परमेश्वर ने सृष्टि की रचना जीवात्मा के भोग तथा अपवर्ग की प्राप्ति के साधनरूप में की है। '**भोगायतनं शरीरम्**' कर्मफल का भोग शरीर के बिना नहीं होता और जब तक कर्मफल भोग न लिया जाये तब तक उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। जीव जो कर्म करते हैं उनके फल की प्राप्ति के हेतु उनमें एक प्रकार के संस्कार या बीजशक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उनको उन कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिलता है। जैसे भूमि में बोया हुआ बीज प्राकृतिक नियमों द्वारा वृक्षरूप होता हुआ कालान्तर में फल लाता है, इसी प्रकार कर्मों से उत्पन्न हुआ अदृष्टरूपी बीज ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार कालान्तर में सुख-दुःखरूपी फलों को प्राप्त कराता है।

प्राणी कर्म तो स्वतन्त्रता से करता है, पर उनके फलों को उस अवस्था में भोगना नहीं चाहता जब वे उसके प्रतिकूल हों। कोई भी जीव निकृष्ट योनियों में अथवा मनुष्य योनि में भी किसी दरिद्र के घर जन्म न लेता। यदि कर्म प्रतिबन्धक हों तो भी, जैसे कोई अपराधी अपराध करके स्वयं बन्दीगृह में जाना नहीं चाहता, अपितु राजकीय न्याय-व्यवस्था के अनुसार बलात् धकेला जाता है, वैसे ही कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। कर्मफल अवश्यंभावी है। किन्तु जड़ होने के कारण कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। दूध को दही का रूप देने के लिए उसमें खटाई मिलाने वाला दूध और खटाई से अतिरिक्त तीसरा होता है। अचेतन होने से कर्म तो फलकाल में यह भी नहीं पहचान सकेंगे कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध होने से कर्मसंकर हो जायेगा। फलतः अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे।

अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने समस्त कर्मों को यथावत् जान नहीं सकता और अल्पशक्ति होने से अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना उसकी शक्ति से बाहर है। कर्म करने वाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह सब साधनों तथा सामग्री को जुटा सके जो प्रत्येक जीव के भोग के लिए अपेक्षित है। सृष्टिरचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के फलोपभोग के लिए समुचित भूमि तैयार करना है जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों और अनेक योनियों तक जाता है। यह सब व्यवस्था किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सत्ता के नियमन तथा निर्देश के बिना संभव नहीं। यदि कोई जीवविशेष इस सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी ही वस्तुओं को बनाता जो उसके अनुकूल होतीं, जन्म, मरण, वृद्धावस्था, रोग आदि विरुद्ध वस्तुओं को न बनाता। कोई भी स्वतन्त्र व्यक्ति अपने लिए कारागार बनाकर उसमें अपने आप नहीं जा बैठेगा।

न हि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति। शांकरभाष्य २।१।२१

Cp. Descarte :"If I were myself the author of my being, I shoud have bestowed on myself every perfection of which I possess the idea and I shoud thus be god." -Meditations, p.iii

इसलिए यह व्यवस्था ईश्वर के कार्यक्षेत्र में आ जाती है। वही प्राणियों के कर्मफल प्रदान का नियन्ता है। नानाविध कर्मो के यथायोग्य उपभोग के लिए उन्हीं के अनुसार जगत् की विविधता प्रकट होती और उपयोग में आती है। जगत् की रचना प्राणियों के लिए है, इसलिए परमात्मा ऐसी सृष्टि की रचना करता है जो उनके अनुकूल हो। परन्तु इस अनुकूलता का नियमन उनके कर्मों के आधार पर होता है। वर्षा से पौधों के बढ़ने में सहायता मिलती है किन्तु बढ़कर वे क्या बनेंगे, यह वर्षा पर नहीं, अपितु बीज की प्रकृति पर निर्भर करता है। धरती, खाद–पानी और जलवायु समान होने पर भी गन्ने से गन्ना, मिर्च से मिर्च और आम से आम पैदा होते हैं। उसी प्रकार नाना योनियों तथा देहादि की विभिन्नता का निर्णय जीवों के पूर्वजन्मों के नैतिक गुणों के आधार पर होता है।

योनियां

तीन प्रकार की योनियां हैं– कर्मयोनि, भोगयोनि तथा उभययोनि। कर्मयोनि में उन जीवों का जन्म होता है जिनके पूर्व कर्म शेष न रहने से कर्मों का विपाक नहीं होता। वे केवल भविष्य के लिए कर्म करते हैं। भोगयोनि में जीव केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए आता है। उभययोनि में जीव पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के साथ–साथ भविष्य के लिए कर्म भी करता रहता है। यह वर्गीकरण प्राधान्य की दृष्टि से किया गया है। प्रयत्न गुणवाला होने से जीव भोगयोनि में भी कुछ कर्म अवश्य करता है, क्योंकि कर्म के बिना तो भोग भी संपन्न नहीं होता। किन्तु विधि–निषेध से मुक्त होने के कारण भोगयोनि में किये गये कर्मों से फलोत्पादक संस्कार या वासना उत्पन्न नहीं होते। इसलिए ऐसे कर्मों का कोई महत्व नहीं होता। इसी प्रकार कर्मयोनि में भी भोग होता है, क्योंकि देहरक्षा के लिए उपयुक्त खान–पान, वस्त्र आदि की व्यवस्था तो करनी ही पड़ती है। किन्तु यह भोग कर्मविपाक के रूप में नहीं होता। अतः जो देह मुख्य रूप से जिस लिए मिलता है, उसी के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है। पूर्वकृत कर्मों के फलोपभोग के साथ जहां ऐसे कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है जो वासना, संस्कार आदि को जन्म देने के कारण आगे भोग को प्रस्तुत करते हैं, वह उभययोनि कहाती है।

कर्म शेष न रहने से मुक्तात्माएं सृष्टि के आदि में प्रकट होने वाले

वेद प्रवक्ता ऋषियों तथा अन्य देव कोटि के पुरुषों के रुप में कर्मयोनि में जन्म लेती हैं। अयोनिज होने के कारण उन्हें गर्भवासादि का कष्ट भी नहीं सहना पड़ता। पशु-पक्षी, कृमि, कीट, पतंग, स्थावर आदि भोगयोनि हैं। जीवनयापन के लिए उन्हें कुछ न कुछ करना पड़ता है। परन्तु उनके ये कर्ममात्र नैसर्गिक क्रियायें हैं। उनका विपाक नहीं होता।

किन्तु सामान्य मनुष्य उभययोनि हैं। यही एक ऐसी योनि है जिसमें रहता हुआ जीव अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कर सकता है। इसीलिए अन्य योनियों में पाप-पुण्य के फल भोगकर बार-बार इस योनि में आता है। इसी योनि में रहता हुआ जीव संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध तीनों प्रकार के कर्मों का निष्पादन संभव है। इसी में '**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**' सार्थक होता है। मोक्षप्राप्ति में साधनरूप होने से इसे सर्वोत्कृष्ट योनि माना जाता है। पाप-पुण्य केवल मनुष्य योनि में ही संभव है।

जीवनकाल में अधर्म से धर्म अधिक होने पर देवों का शरीर मिलता है जिनकी मानसिक स्थिति सात्विक होती है और इस कारण जिनका पाप कम और पुण्य अधिक होता है उन्हें देवों (**विद्वांसो हि देवाः**) का शरीर मिलता है। यह शरीर उन वीतराग पुरुषों का समझना चाहिए जो फल की आशा छोड़कर कर्म का अनुष्ठान करने में तत्पर रहते हैं। इस भावना से कार्य करने वाले यतियों, ब्रह्मचारियों तथा ऐश्वरी सृष्टि में जन्म लेने वाले ऋषियों का इस कोटि में समावेश समझना चाहिए।

जब इसी जन्म में पाप-पुण्य बराबर हों तो सीधे और जब पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हों अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हों तो यथास्थिति उन्हें देवों अथवा पश्वादि के शरीरों में भोगकर जब पाप-पुण्य बराबर हो जायें तो फिर साधारण मनुष्य का जन्म मिलता है। इसमें पाप=पुण्य के उत्तम-मध्यम-निकृष्ट होने से मनुष्य योनि में भी उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है। उभय योनि होने से इस देह में रहकर जीव पूर्वकृत कर्मों के फलों को भोगते हुए अन्य अनुष्ठानों में तत्पर रहता है।

जब पुण्य की अपेक्षा पाप का आधिक्य हो तो पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि का शरीर मिलता है। यहां भी पापों की निकृष्टता की अपेक्षा से न्यूनाधिक निकृष्ट शरीरों की व्यवस्था है। पूर्वकृत कर्मों का

फल भोगने के लिए ही ऐसा शरीर मिलता है। इसमें रहते हुए जीव यत्किंचित् जो कर्म करता है, वह केवल भोग संपादन के लिए होता है। उससे किसी प्रकार के संस्कार उत्पन्न न होने से आगे चलकर उसका विपाक नहीं होगा।

मिश्र देश की गुफाओं में मिले शिलालेखों में एक शिलालेख में लिखा है—

''ईश्वर और मनुष्य में इतना अन्तर है कि एक अर्थात् मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर में फंसता है, दूसरा अर्थात् ईश्वर नहीं। (इस कथन में वेदोक्त **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'** का स्पष्ट भाव है।) पुनर्जन्म के चक्कर में फंसी आत्माएं कीट, मत्स्य, पशु, पक्षी तथा मनुष्य के क्रम में से गुजरती हैं तथा विपरीत क्रम में भी जन्म लेती हैं। पापी आत्माओं को पाप का फल भोगने के लिए पशु जन्म मिलता है।''

अंग्रेजी में एक कहावत है— ''Man on earth is god subject to death while god is man in heaven free from death.''

अर्थात् मनुष्य धरती पर जन्म-मरण के चक्कर में फंसा हुआ ईश्वर है और ईश्वर स्वर्ग में इस चक्र से मुक्त मनुष्य है। ईश्वर और जीव के भेद की यह काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य में, स्त्री का पुरुष में और पुरुष का स्त्री में आता-जाता रहता है। अतिशय पाप करने पर स्थावरों (वृक्षादि) का शरीर मिलता है। मनुस्मृति आदि शास्त्रों से यह प्रामाणित है कि कर्मादि के अनुसार भोगादि के लिए जीव को स्थावर शरीर भी मिल सकता है। मनुस्मृति में लिखा है— **'शयरीरजैर्कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः'** (१२।१) अर्थात् शरीर द्वारा किये गये पाप कर्मों के कारण प्राणी वृक्ष, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। अथर्ववेद में **'वीरुधः प्राणन्ति'** (१।२१।१) कहकर वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अथर्ववेद (८।७।६) तथा छान्दोग्य (६/११/३) में भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं।

जन्म कैसे

आत्मा का शरीर से संयुक्त होना जन्म कहाता है और उसका शरीर से वियुक्त होना मृत्यु। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।८) में लिखा है— **''स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः।''** अर्थात् जब वह जीवात्मा पुरुष शरीर से युक्त होता है तब जन्मा हुआ कहा जाता है और जब वह शरीर से उत्क्रमण करता है तब मरा हुआ कहाता है। इस प्रकार जीवात्मा में जन्म मरण का व्यवहार देह से संयोग-वियोग के आधार पर होता है।

मरणोपरान्त जब शरीर का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है तो आत्मा आकाशस्थ वायु में चला जाता है-**'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा' (ऋ.१०।१६।१)** फलोपभोग के कारण प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर संचित में से फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आ जाता है। इस प्रकार पूर्वजन्मों में किये पाप-पुण्य के फल भोगने के स्वभाव से मुक्त आत्मा, पूर्व शरीर को छोड़कर वायु में गया हुआ, जल, वायु, प्राण आदि के माध्यम से वीर्य में प्रविष्ट हो जाता है। तदनन्तर ईश्वर की प्रेरणा से स्त्री की योनि के द्वारा वह गर्भाशय में स्थित हो जाता है और दस मास तक (ऋ.५।७८।८-९; अथर्व. १।११।६) वहां पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है। स्त्री के गर्भाशय में किस दिन आत्मा का शरीर से संयोग हुआ, प्रायः इसका पता चलना कठिन है। इसलिए व्यवहार में शरीर के गर्भाशय से बाहर आने को ही जन्म लेना कहा जाता है। शरीर से संयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सन्दर्भ में ऋग्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है-

दश मासाञ्छशयानःकुमारो अधि मातरि।
निरैतुजीवो अक्षत जीवो जीवन्त्या अधि।।५।७८।९।

दस मास तक माता के उदर के भीतर रहकर प्राणों को धारण किये हुए जीव माता के गर्भ से जीवित निकले। इससे पहले मन्त्र में **'दशमास्यः अवेहि'** कहा है। अथर्ववेद (१।११।६) में **'दशमास्यः अवपद्यताम्'** लिखा है। यहां सर्वत्र बालक के माता के गर्भ में दश मास तक रहने का उल्लेख हुआ है, जबकि लोकव्यवहार में सदा 'नौमास' का व्यवहार होता है। इसलिए वेद में आये **'दश मासान्'** आदि का अर्थ **'दशमे मासि'** करना उपयुक्त है। रघुवंश में रघु के जन्म के

सन्दर्भ में उसके समय पर (काले) उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। सभी टीकाकारों ने **'काले'** का अर्थ **'दशमे मासि'** ही किया है।

रज और वीर्य के मिश्रण के बिना गर्भस्थिति संभव नहीं और इस मिश्रण के लिए नर और मादा का समागम आवश्यक है– परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष में। वीर्य बैंक और परखनली आदि उसी प्रक्रिया के रूप हैं। ईश्वर या दैवी चमत्कार के नाम पर (ईसा और कुन्ती की सन्तानों के जन्म की तरह) स्त्री–पुरुष के समागम के बिना होने वाली सन्तानें वस्तुतः अवैध होती हैं अथवा किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा उपलब्ध रज–वीर्य के मिश्रण के द्वारा उत्पन्न होती हैं।

सृष्टि के आदि में समस्त सृष्टि अमैथुनी होती है–अर्थात् नर–नारी के परस्पर सहयोग के बिना ही जीव शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार की देह रचना 'अयोनिज' कहाती है, क्योंकि उसमें योनि का प्रयोग नहीं होता। इसी को ऐश्वरी सृष्टि कहते हैं, क्योंकि उस समय सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में केवल ईश्वर विद्यमान रहता है। प्राकृत व्यवस्था के अनुसार रज–वीर्य के मूल तत्व किसी विशिष्ट खोल आदि में संकलित हो जाते हैं और उनमें शरीर रचना आरम्भ हो जाती है। कालान्तर में देह के परिपुष्ट हो जाने पर वे खोल फट जाते हैं और बने–बनाये शरीर बाहर आ जाते हैं। सृष्टि के आदि में मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर मानव शरीर धारण करने वाले जीवों, उत्कृष्ट धर्मविशेष का पालन करने वाले ऋषि–मुनियों तथा अन्य समस्त प्राणियों की उत्पत्ति इसी प्रकार अयोनिज शरीरों के रूप में होती है।

इस प्रक्रिया को एक वृक्ष के उदाहरण के रूप में समझना आसान होगा। बिना बीज के वृक्ष नहीं होता, इसे सब स्वीकार करते हैं और बीज पेड़ पर उत्पन्न होने और आगे होनेवाले पेड़ों को उत्पन्न करते हैं। परन्तु सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न पेड़ का बीज कहां से आया? वस्तुतः जिन तत्वों से बीज का निर्माण होता है वे प्रकृति में सदा विद्यमान हैं। वे भौतिक तत्व एक खोल के भीतर प्रकृति–गर्भ में पोषण पाते रहे और पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो अनुकूल अंकुर के रूप में प्रस्फुटित हुए। इस प्रकार सबसे पहले उत्पन्न होने वाले किसी भी वृक्ष के बीज का निर्माण प्रकृति के गर्भ में ईश्वर द्वारा निर्धारित नियम व व्यवस्था के अनुसार स्वतः हुआ। ईश्वरीय व्यवस्था में निर्मित बीज की बनावट वैसी रही होगी जैसी हमें उस वृक्ष विशेष से उत्पन्न होने वाले बीजों की आज

दीख पड़ती है। वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा ट्यूब में मानव शरीर के निर्माण के लिए किया जा रहा प्रयत्न इसी प्रक्रिया का द्योतक है। कृत्रिम गर्भाधान (Artificial insemination) भी अंशतः उसी का अंग है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सृष्टि चाहे मैथुनी हो चाहे अमैथुनी, प्राणियों के शरीरों की रचना परमेश्वर सदा माता-पिता द्वारा करता है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि आदि सृष्टि में माता यह पृथिवी होती है और वीर्य संस्थापक सूर्य। ऋग्वेद (१।१६४।१३) में कहा है- **''द्यौर्मे पिता जनिता माता पृथिवी महीयम्।''** अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में प्राणियों के शरीरों का उत्पादक पिता रूप में सूर्य था और माता के रूप में यह विशाल पृथिवी थी। जैसे इस समय बालक माता के गर्भ में जरायु में पड़ा माता के आहार में से रस लेकर बनता और विकसित होता है, वैसे ही आदि सृष्टि में पृथिवी रूपी माता के रूप में बनती रहती है। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता है, वैसे-वैसे भूमि की मिट्टी संकुचित होकर उसे अधिकाधिक सन्तान देती रहती है।

विवाह संस्कार में पाणिग्रहण की विधि के पश्चात् वर-वधू एक मंत्र पढ़ते हैं- **''द्यौरहं पृथिवी त्वम् तावेव विवहावहै—प्रजां प्रजनयावहै''**- पति अपनी पत्नी को कहता है कि 'तू पृथिवी के समान है और मैं द्यौः अर्थात् सूर्य के समान हूँ। हम दोनों मिलकर उत्तम सन्तान को उत्पन्न करें।' इस प्रसंग में गीता के उन दो श्लोकों को उद्धृत किया जाता है जिनमें कहा गया है कि **'महद् ब्रह्म'** (प्रकृति) मेरी योनि है और मैं उसमें गर्भ धारण कराता हूँ। फिर उसमें समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। (पशु-पक्षी आदि) सब योनियों में जो मूर्त्तियां जन्म लेती हैं, उनकी योनि महद् ब्रह्म (प्रकृति) है और मैं उसमें बीज डालने वाला पिता हूं—

ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।। गीता.१४।३,४

गीता को उपनिषदों का सार कहते हैं। मुण्डकोपनिषद् में (२।१।५) आलंकारिक रूप में वर्णन करते हुए कहा है—

पुमान् रेतः सिञ्चति योषितावां बह्वीः प्रजा पुरुषात् सम्प्रसूताः।

अर्थात् पुमान् (परमात्मा) योषित् (प्रकृति) में रेतः (बीज)

सिंचन करता है और इस प्रकार ब्रह्म पुरुष से समस्त प्रजा उत्पन्न होती है। जगत्सर्ग के लिए प्रकृति में प्रेरणा देना ही योषित् में परमात्मा का रेतः सिंचन करना है। उपनिषद् के इस सन्दर्भ से गीता का आशय स्पष्ट हो जाता है।

अद्वैतपरक समझे जाने वाले गीता के उपर्युक्त श्लोकों में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादानकरण के रूप में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है। पिता के रूप में बीज डालने वाला ब्रह्म निमित्तकारण है और जिसमें वह बीज डालता अथवा गर्भ धारण कराता है, उसके रूप में प्रकृति उपादानकरण है। 'ब्रह्म' पद वेद में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का वाचक है–'ज्येष्ठ ब्रह्म' से परमात्मा, 'इदं ब्रह्म' से जीवात्मा तथा 'महद् ब्रह्म' से प्रकृति का बोध होता है। प्रकरणानुसार अर्थ का निर्धारण होता है। तात्स्थ्योपाधि से परमात्मा के प्रतिनिधिरूप श्रीकृष्ण गीता के कविनिबद्ध वक्ता हैं। अतएव 'अहम्' पद से यहां परमात्मा अभिप्रेत है जो पितृरूप में कथन किया गया है।

आदि सृष्टि में जो कार्य जीव से अतिरिक्त शक्ति द्वारा होता है, सर्गकाल में वह नर–मादा के संयोग से स्वयं प्राणियों द्वारा होता है। आरम्भ में सांचा बनाना कठिन होता है। सांचा तैयार होने पर उसके अनुरूप वस्तुओं का निर्माण करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। आदिसृष्टि में अनेकानेक शरीरों के रूप में सांचे बनाना ईश्वर का काम था। तदनन्तर इन सांचों में ढाल–ढाल कर नित नये शरीर बनाते रहना जीवों का काम है।

आदिकाल में जन्म युवावस्था में– बालक उत्पन्न होते तो उनके पालन–पोषण के लिए अन्य समर्थ प्राणियों की अपेक्षा होती। किन्तु अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होने के कारण उनसे पहले किसी अन्य के होने का प्रश्न नहीं उठता। दस मास तक माता के गर्भ में संवर्धित होकर जन्म लेने के बाद भी मानव शिशु इतना असहाय होता है कि वह स्वतः अपना पालन–पोषण एवं संरक्षण करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। यह समस्या अन्य प्राणियों के लिए भी बहुत कुछ ऐसी ही है। यदि वृद्धावस्था में प्राणी का जन्म हो तो वह आगे मैथुनी सृष्टि में साजत्य प्रजनन में असमर्थ होगा। अतः आदि सृष्टि में प्राणी का प्रादुर्भाव ऐसी स्थिति में संभव है जब नर अपने पोषण–रक्षण के लिए परापेक्षी न हो तथा मैथुनी सृष्टि के नियमानुसार सजातीय प्रजनन में समर्थ हो। जहां तक मानव की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, यह अवस्था २०–२२ वर्ष की

अवस्था के आस-पास की सी होनी चाहिए। आज के वैज्ञानिक भी ऐसा ही मानते हैं। बोस्टन नगर की स्मिथ सोनियन यूनिवर्सिटी के जीव विज्ञान विभाग के अध्यक्ष **डॉ. क्लार्क** के अनुसार पहले मनुष्य का प्रादुर्भाव ऐसी स्थिति में हुआ जब वह चल सकता था, बोल सकता था, सोच सकता था और अपनी रक्षा कर सकता था-''Man appeared able to walk, talk, think and defend himself.''

सृष्टि के आरम्भ में सभी प्राणियों के अनेक जोड़े (नर-मादा) उत्पन्न हुए थे। इसलिए यह कहना गलत होगा कि समस्त मनुष्य एक ही माता-पिता के वंशज हैं। अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में भी यही नियम है।

जीवन

जीवन के विषय में वेद ने तीन बातों का निर्देश किया है-

१. **जिजीविषेच्छतं समाः**-सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो।

२. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**-कर्म करते हुए ही (जीने की इच्छा करो)।

३. **त्यक्तेन भुञ्जीथा**-(जब तक जियो तब तक) त्यागपूर्वक भोग करो।

१-सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। इच्छा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपनी आयु को घटाना-बढ़ाना बहुत हद तक मनुष्य के अपने हाथ में हैं। यदि ऐसा न हो अर्थात् आयु की अवधि नियत हो तो सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करना और उस इच्छा की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। जो निश्चित है वह होकर रहेगा - उसे कोई मिटा नहीं सकता और यदि आयु निश्चित नहीं है तो अकाल मृत्यु का क्या अर्थ है? आयुर्वेद शास्त्र के प्रणेता महर्षि चरक ने इस विषय में विस्तार से विचार किया है। अन्तिम निष्कर्ष के रूप में उन्होंने अपनी 'चरक संहिता' विमानस्थान अध्याय ३ में लिखा है—

काल- अकाल मृत्यु का विषय सदा से विवाद का विषय रहा है। आज तक इसका निर्णय नहीं हो पाया। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से महर्षि चरक का निर्णय सर्वथा उपादेय है। एतद् द्वारा निर्दिष्ट मार्ग मनुष्य के लिए पूरी तरह कल्याणकारी है।

सामान्यरूप से '**जानुषातो मृत्युपर्यन्तमायुष्यम्**'- जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जितना काल है, उसे 'आयु' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार किसी प्राणी की आयु का निश्चय मरने के बाद ही हो सकता है, जीते जी नहीं। इसलिए जीवित व्यक्ति से उसकी आयु नहीं पूछी जा

सकती। 'आपकी आयु क्या या कितनी है?' यह प्रश्न असंगत है। 'आयु' के स्थान पर 'अवस्था' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। चरक संहिता में दो स्थलों में आयु शब्द आया है–

१. **शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारिजीवितम्।**
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते।। सूत्रस्थान १।४२

अर्थात् – शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग आयु कहाता है। धारि, जीवितम्, नित्यगः और अनुबन्ध इसके पर्याय हैं।

२. **'आयुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः।**
(सूत्रस्थान ३०।२२)

अर्थात्–आयु, चेतनानुवृत्ति, जीवितम्, अनुबन्ध और धारि–ये सब समानार्थक हैं। आयु की इयत्ता के विषय में भगवान् मनु का कथन है–**'वेदोक्तमायुर्मर्त्यानाम्'** – अर्थात् मनुष्य की सामान्य आयु उतनी जाननी चाहिए जितनी वेद में कही है। वैदिक साहित्य में अनेकत्र उपलब्ध वचनों में इस प्रसंग में 'सौ वर्ष' का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ–

१. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।** यजु. ४०।२

२. **तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।** यजु. ३६।२४ ['भूयश्च शरदः शतात्' = भूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकम् = सौ वर्ष से उपरान्त भी– (पञ्चमहायज्ञविधिः)। पदार्थ–(शतात् शरदः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक भी। भावार्थ– सौ वर्ष से भी अधिक जीवें–(यजुर्भाष्य)।]

३. **शतायुर्वै पुरुषः।** (ऐतरेय ब्राह्मण) ४. **जरां गच्छ परिधत्स्व वासः— शतं च जीव शरदः सुवर्चा।** (पारस्कर गृह्यसूत्र १।४।१२) ५. **शतञ्च जीवामि शरदः पुरूचीः।** (पारस्कर गृह्यसूत्र २।६।२०) ६. **इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि–शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीः।** (यजु. ३५।१५)

७. छान्दोग्य उपनिषद् में पुरुष में यज्ञ का आरोप करके उपसंहार में उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताने से उस यज्ञ के तत्त्वविद् महीदास की ११६ वर्ष की आयु का उल्लेख हुआ है–**'स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद।'**[१]

---

१. 'पुरुषो वाव यज्ञः इत्युपक्रम्य पुरुषस्य षोडशोपेतं शतवर्षमायुः परिगणितम्। भूयसीः शरदः शतात्। (अथर्ववेद १९।६७।८)
यो वै शतादूर्ध्वं जीवति स अमृतमश्नुते। (शतपथ)

निघण्टु में 'शतम्' का अर्थ 'बहुत' अथवा 'अनेक' लिखा है-**'शतं बहुनाम'** (३।१)। सायणाचार्य ने ऋग्वेद ८।१।५ का भाष्य करते हुए लिखा है-**'शतायु बहुनामैतत् अपरिमिताय।'** उव्वट के अनुसार शत शब्द असंख्य का वाचक है-**'शतशब्दोऽसंख्यातविषयः'** (यजु. १२।८)। यजु. ४०।२ का भाष्य करते हुए उव्वट ने लिखा है-**'शतं समाः इत्युपलक्षणार्थम्। यावदायुः पर्यवसानमित्यर्थः।'** कतिपय विद्वानों के मत में शत शब्द मध्यम संख्यावाचक होने से समीपस्थ संख्या का भी ग्राहक है, किन्तु इसे सहस्रों तक नहीं खींचा जा सकता। मीमांसासूत्र **'नासामर्थ्यात्'** (६।७।३२) के भाष्य में कहा गया है-**'न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टं येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः—कुतः?** 'शतायुर्वै पुरुषः इत्यनुवादः।'

वस्तुतः सामान्य रूप से मनुष्य सौ वर्ष आयु वाला होता है। अपने उत्तम-निकृष्ट आचार-व्यवहार से वह उसे बढ़ा-घटा सकता है। यदि ऐसा संभव न होता तो **'भूयश्च शरदः शतात्'** की प्रार्थना करना व्यर्थ होता। मनुष्य को जन्म के समय प्रकृति की देन के रूप में जो शरीर मिलता है, यदि वह रोग, चिन्ता वा आकस्मिक घटना का शिकार न हो जाये तो उसकी साधारण अवधि सौ वर्ष मानी जाती है। जो सौ वर्ष से अधिक जीता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है। यहां सौ या सहस्र उपलक्षणमात्र है। तात्पर्य अधिक से अधिक काल तक जीने का प्रयास करने से है। यजुर्वेद (३।६२) का प्रसिद्ध मन्त्र है-

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्।।

इस मन्त्र के आधार पर ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—**'ब्रह्मचर्यादिनियमेन मनुष्यैरेतत् त्रिगुणमायुः कर्त्तुं शक्यमितीति गम्यते'** अर्थात् मनुष्य ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करने से त्रिगुण-चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।

इच्छा सदा अप्राप्त वस्तु की होती है और बिना प्रयत्न के उसकी प्राप्ति नहीं होती। प्रयत्न भी उसी के लिए होता है जो संभव हो। सौ वर्ष जीने की इच्छा का निर्देश ईश्वर ने किया है। यदि आयु की इयत्ता उसकी ओर से निर्धारित है और जीव में उसे घटाने-बढ़ाने का सामर्थ्य नहीं है तो ईश्वर की ओर से एतद्विषयक निर्देश दिये जाने की क्या

सार्थकता है ? वेद में अनेकत्र ऐसे मन्त्र हैं जिनमें बार-बार मनुष्य को अपनी आयु बढ़ाने का निर्देश परमेश्वर की ओर से दिया गया है। अन्य आर्ष ग्रन्थों में भी इस प्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशोबलम्॥ मनु.२।२१
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः॥ मनु.४।१५६
दुराचारो ही पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ मनु. १।१५७

भगवान् आत्रेय चरकसंहिता में लिखते हैं- **'द्विविधाः तु खलु भिषजो भवन्ति अग्निवेश! प्राणानां ह्येके अभिसराः हन्तारो रोगाणां ह्येके अभिसरो हन्तारः प्राणानामिति।'** अर्थात् - हे अग्निवेश! दो प्रकार के वैद्य होते हैं- एक तो प्राणों को प्राप्त कराने वाले, रोगों को मारने वाले और दूसरे वे जो रोगों को लाने वाले और प्राणों को हरने वाले होते हैं। अन्ततः अग्निवेश ने सीधा प्रश्न किया कि हे भगवन्! आयु का प्रमाण नियत है वा नहीं ? भगवान् आत्रेय बोले कि हे अग्निवेश! इस संसार में प्राणियों की आयु मुक्ति की अपेक्षा करती है। यह बात निश्चित है कि मनुष्य का जीवन हितकारी आचरण तथा चिकित्सा पर निर्भर है। इसके विपरीत चिकित्सा न होने पर मृत्यु निश्चित है। देशकाल और आत्मविपरीत कर्म तथा आहार-विहार सम्बन्धी विकारों से भी अकालमृत्यु होती है। यदि आयु के काल का प्रमाण नियत है तो दीर्घजीवन की इच्छा करने वालों के लिए होम, नियम, उपवास आदि इष्ट क्रियाओं का कुछ प्रयोजन नहीं है। शत्रुसमूह, अग्नि तथा अनेक प्रकार के विषैले सर्प आदि से बचने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जब आयु का प्रमाण निश्चित है तो इनसे क्या भय ? यह सुनकर अग्निवेश बोला कि हे भगवन्! जब आयु के काल का प्रमाण अनियत है तो कालमृत्यु और अकालमृत्यु किस तरह होती है ? तब भगवान् आत्रेय ने समझाया—

जैसे रथ में लगा हुआ धुरा प्रकृत अक्षगुणों से युक्त और सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी चलते-चलते समय पाकर अपने प्रमाण की क्षीणता अर्थात् घिसने से अन्त को प्राप्त हो जाता है वैसे ही शरीर की आयु भी प्रकृति के अनुसार उपचार्यमाण किये जाने पर भी अपने प्रमाण के क्षीण हो जाने से अपने अवसान को प्राप्त हो जाती है। यही मृत्यु कालमृत्यु कहाती है। और जैसे वही धुरा अत्यधिक बोझ लादने, ऊंचे-नीचे मार्ग पर चलने,

चक्र-मण्डल के टूट जाने, बाह्य के दोष, अनिर्मोक्ष, पर्यवसन अथवा अन्यान्य अवयवों के टूटने से कुसमय में भंग हो जाता है, वैसे ही आयु भी बल से अधिक काम करने, अत्यधिक मैथुन करने, जठराग्नि के बल से अधिक भोजन करने, विषम भोजन करने, दुष्ट व्यवहार करने, उपस्थित वेगों के रोकने ,धारणीय वेगों के धारण न करने ,भूतविष अग्नि के उपताप, चोट लगने, सर्वथा भोजन न करने से बीच में ही विपत्ति आ जाती है। यही अकालमृत्यु है।

एक ही स्थान से कई व्यक्ति एक जैसी बर्फ लाते हैं। घर लाकर कोई उसे आइस बाक्स (Ice Box) में रखता है, कोई भूसे में दबा देता है, कोई उसे जल में डाल देता है, कोई ऐसे ही पड़ी रहने देता है। हम देखते हैं कि एक ही फैक्टरी से एक ही सिल्ली में से लाई गई बर्फ के पिघलने का समय अलग-अलग होता है, क्योंकि बर्फ के रख-रखाव में अन्तर होने से उसके पिघलने की गति में अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार शरीर के रख-रखाव, सदुपयोग-दुरुपयोग आदि के कारण उसकी आयु में अन्तर हो जाता है।

सामान्यतः आजकल संसार के भिन्न-भिन्न देशों में मनुष्यों की औसत आयु २५-३५ से लेकर ६०-६५ वर्षों तक है। वेद में सौ वर्ष की आयु का अनेकत्र निर्देश होने से इतना तो स्पष्ट है कि सौ वर्ष की आयु पाना कोई अनहोनी बात नहीं है। मिस्र देश में **मूसा** के समय मनुष्य की औसत आयु ७० वर्ष मानी जाती थी। परन्तु भारत में ये औसत ७० से कहीं अधिक थी। वात्स्यायन के अनुसार '**आषोडशात् सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम्**'- १६ से ७० वर्ष तक यौवन की अवधि है। ७० के बाद बुढ़ापा शुरू होता था। विदेशी यात्रियों द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार १३०० ईसवी तक हमारे देश में कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग थे जिनकी औसत आयु १५० वर्ष से ऊपर होती थी। **मार्को पोलो ने,** जो इस देश में १२८० ईसवी में आये और जिसने अपनी यात्रा का विवरण १३०० ईसवी में लिखा, बताया है-

"All Brahmas come from that country on the west. they are best merchants and most truthful. they eat no flesh and drink no wine and lead a life of chastity. They wear a thread of cotton on the shoulders which crosses the breast and the back. They are long lived and have capital teeth owing to a certain herb they chew. There are other Brah-

mans called "jogi" who are longer - lived. They live upto 150 or even 200 years. They eat rice and milk only. They drink a potion of sulpher and quick silver twice a day which leads to longerity. They fast many days and drink nothing but water. They sleep on the ground and yet live long.'' History of Medieval Hindu India by C.V. Vaidya, Vol iii, P. 383

अर्थात् – सब ब्राह्मण पश्चिम प्रदेश के हैं। वे सभी व्यापारी हैं और सत्यनिष्ठ हैं। वे न मांस खाते अैर न मदिरा पान करते हैं। अत्यन्त पवित्र जीवन बिताते हैं। वे अपने कन्धे पर पीठ और छाती से गुजरता हुआ सूतीधागा (यज्ञोपवीत) पहनते हैं। मादक द्रव्यों से दूर रहने के कारण वे दीर्घजीवी होते हैं। एक बूटी विशेष को चबाने के कारण उनके दांत बहुत पक्के हैं। ब्राह्मणों की एक जाति योगी कहाती है जो और भी अधिक जीवी है। वे १५० से २०० वर्ष तक जीते हैं। वे केवल दूध और चावल का भोजन करते हैं। वे दिन में दो बार गन्धक और पारे का प्रयोग करते हैं जो उनके दीर्घजीवी होने में सहायक है। वे कई–कई दिन तक उपवास करते हैं और जल के सिवा कुछ ग्रहण नहीं करते। वे धरती पर सोते हैं, फिर भी दीर्घजीवी होते हैं।

परन्तु वेद ने सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करने का निर्देश मरते–मरते नहीं किया। खाट पर पड़े–पड़े सौ वर्ष जीने की अपेक्षा स्वस्थ रहकर पचास वर्ष जीना कहीं अच्छा है। **'क्षणं प्रज्वलितं श्रेयः न चिरं धूमायितम्'** (महाभारत)=देर तक सुलगते रहने से क्षण भर के लिए प्रज्वलित हो प्रकाश देकर बुझ जाना अच्छा है। जब रोग से शरीर गल जाता है, बुढ़ापे के कारण सिर के बाल पक जाते हैं, मुंह में दांत नहीं रहते, न ठीक से सुनाई देता है और न दिखाई देता है और मनुष्य लाठी के सहारे चलता है, तब भी मनुष्य की जीने की इच्छा बनी रहती है। इतना ही नहीं, ज्यों–ज्यों अंग शिथिल होते जाते हैं, त्यों–त्यों तृष्णा बढ़ती जाती है। इस रूप में जीते रहने के लिए वेद नहीं कहता। सौ वर्ष तक जाने का अर्थ है—सौ वर्ष तक देखते, सुनते, बोलते और चलते फिरते जीना–

'जीवेम शरदः शतम्, पश्येम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रवाम शरदः शतम्, अदीना स्याम शरदः शतम्, भूयश्च शरदः शतात्।'

और यह देखना-सुनना भी कैसा हो, इसकी व्याख्या करते हुए यजुर्वेद (२५।१९) में कहा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

अर्थात् हम कानों से अच्छी बातें सुनें, आंखें सदा भद्र देखें और स्वस्थ अंगों से युक्त शरीर से देवों के लिए हितकर आयु व्यतीत करें।

हितायु का लक्षण करते हुए 'चरक संहिता' में लिखा है—

''जो मनुष्य समस्त प्राणियों पर दया करता है, पराये धन का लोभ नहीं करता, जो सत्यनिष्ठ और शान्तिपरायण है, सोच विचार कर काम करने वाला है, धर्म, अर्थ और काम तीनों वर्गों को परस्पर अनुपहत क्रम से भोगता है, जो पूजा के योग्यों की पूजा करता है, जो ज्ञान, विज्ञान और शीलवाला है, जो वृद्धों की सेवा करता है, जिसने ईर्ष्या, राग, द्वेष, मद और मान-अपमान को पूरी तरह जीत रक्खा है। जो निरन्तर अनेक प्रकार का दान करता है, जो नित्यप्रति तपश्चर्या, ज्ञान और शान्ति में लीन है। जो अध्यात्मवेत्ता और अध्यात्मचिन्तन में तत्पर रहता है और जो इस लोक और परलोक दोनों में सुख चाहता है। ऐसे पुरुष की आयु को हितायु कहते हैं।'' (चरक संहिता, सूत्रस्थान, अध्याय ३०)

कर्म करते हुए जीना

यह 'संसार' है। संसरति= निरन्तर चलता रहता है। 'जगत्' है= गति करता रहता है। मनुष्य भी इस संसार का अंग है। जब सारी मशीन चल रही हो तो ऐसा कौन-सा पुर्जा है जो बिना चले रह जाये? अकर्मण्यता का अर्थ अन्ततः ह्रास या विनाश है। 'जो पानी खड़ा, सो सड़ा। मनुष्य आत्मा है- निरन्तर 'गतिवाला' (अत सातत्यगमने) है। 'प्रयत्न' आत्मा का गुण, लक्षण या लिंग (चिह्न) है। इसलिए वह कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कार्लाइल के शब्दों में ''What is this universe, but a infinite conjugation of verb to do.''

अर्थात् यह संसार 'कृ' (करना) धातु के विविध रूपों के सिवा कुछ नहीं है। कोई चाहे, न चाहे, जब तक प्राकृत शरीर है तक तब प्रकृति के गुणों (सत्व, रजस्, तमस्) से विवश होकर उसे कुछ न कुछ करते रहना होगा (गीता ३।५)। अनुगीता (अश्व.२।७) में यही बात इन शब्दों में कही है-'**नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते**'

अर्थात् लोक में किसी से घड़ी भर के लिए भी कर्म नहीं छूटते। जब स्थूल शरीर निश्चेष्ट रहता है तब भी सूक्ष्म शरीर कर्म में प्रवृत्त रहता है। स्वप्नावस्था में जब समस्त इन्द्रियां शिथिल होकर अपना काम छोड़ बैठती हैं तो मन को मनमानी करने का अवसर मिल जाता है और जो काम वह जाग्रत में नहीं कर सकता था उन्हें स्वप्न में कर डालता है। सुषुप्ति में जब मन भी शान्त हो जाता है तो प्राण काम करते रहते हैं। यदि प्राण भी हड़ताल कर दें तो सारी फैक्टरी बन्द हो जाती है और उसका मालिक किसी नई फैक्टरी में जाकर अपना काम करने लग जाता है। इसलिए सर्वथा निष्क्रिय होने का अर्थ है – मृत्यु। चेतन मनुष्य या प्राणियों की तो बात ही क्या, सूर्य, चन्द्रमा आदि जड़ पदार्थ भी निरन्तर कार्य (कर्म नहीं) करते रहते हैं। पृथिवी घूमती है, वायु चलती है, नदी बहती है, फूल खिलते हैं, बादल बरसते हैं। इस प्रकार जड़-चेतन में सर्वत्र गति है। महाभारत में द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा था– **'अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न कदाचन'** (महा. वनपर्व ३२।८) अर्थात् कर्म के बिना प्राणिमात्र का निर्वाह नहीं। कर्म का त्याग करने पर तो खाने को भी नहीं मिलेगा – **'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः'** (गीता ३।८)। यही कारण है कि संसार के समस्त क्रियाकलाप को मिथ्या घोषित करने वाले वेदान्ती और **'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम'** की रट लगने वाले साधु भी रोटियों के लिए घर-घर अलख जगाते फिरते हैं।

कार्य या कर्म सृष्टि का सार्वत्रिक नियम है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'गीतांजलि' में लिखा है – 'कर्म से मुक्ति कहां है? परमेश्वर ने स्वयं सृष्टि रचना आदि का काम सहर्ष (Joy-fully) अपने ऊपर ले रखा है। वह तो सदा हमसे जुड़ा रहता है। तुम्हें मन्दिर के भीतरी कोने में भगवान् नहीं मिलेगा। वह तो वहां है जहां किसान हल चला रहा है या जहां सड़क पर बैठा मजदूर पत्थर तोड़ रहा है। वह तो वर्षा और धूप में उनके साथ है। उसके कपड़े धूल में भरे हैं। यदि तुम उससे मिलना चाहते हो तो अपने कीमती कपड़े उतार दो और उसकी तरह धूल भरी धरती पर आ जाओ।'★

★ Where is this deliverance to be found ? Our master himself has joyfully taken upon himself the bonds of creation; he is bound with us all for ever. Whom dost thou worship in this lonely dark corner of a temple with all doors shut ? He is there where the tiller is tilling the hard ground and where the path

'परमात्मा हर समय काम में लगा रहता है। वह न्याय के दिन (Day of Judgement) तक खाली बैठने वाला नहीं है। प्रकृति के परमाणुओं में गति देता है। वह प्रकृति के परमाणुओं को गति देता है, फूलों में रंग भरता है। बीजों को अंकुरित करता है, नक्षत्रों का संचालन करता है, असंख्य प्राणियों के कर्मों का लेखा-जोखा रखता और तदनुसार न्याय करता है। मेरा पिता काम में लगा रहता है, मैं भी काम में लगा रहता हूं।'❐

वस्तुतः नित्य कर्मशील पिता की सन्तान निष्क्रिय कैसे रह सकती है? जब कर्म का साम्राज्य जगद्व्यापी है तो जगत् में रहने वाला मनुष्य उससे कैसे बच सकता है? वेद जीवन की अन्तिम घड़ी तक कर्मनिष्ठ बने रहने का निर्देश करता है। सौ वर्ष के जीवन को २५-२५ वर्ष के चार भागों में विभक्त किया गया है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास। इन चारों को आश्रम के नाम से अभिहित किया गया है। इससे स्पष्ट है प्रत्येक अवस्था में श्रम अर्थात् कर्म अनिवार्य है। चार वर्णों की तरह चारों आश्रमों के लिए भी विशिष्ट कर्मों का विधान है। जब संन्यास में कर्म के त्याग की बात कही जाती है तो वहां कर्ममात्र का त्याग अभिप्रेत नहीं होता, स्वार्थ कर्म विवक्षित होता है। उसका कर्मक्षेत्र अपने परिवार, नगर आदि तक सीमित नहीं रहता। तब उसका लक्ष्य मनुष्यमात्र की सेवा हो जाता है। गीता के गूढ रहस्य को न समझकर किसी समय गीता के निष्काम कर्म के नाम पर निष्कर्मण्यता की लहर चल पड़ी। परन्तु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश इसलिए नहीं दिया था कि अर्जुन संन्यासी बनकर भीख मांगता फिरे या लंगोटी लगाकर हिमालय की ओर प्रस्थान करे।

किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का निश्चय करने में उसका उपक्रम, उपसंहार तथा अभ्यास निर्णायक होते हैं-'**उपक्रमोपसंहारौ**

maker is breaking stones. He is with them in sun and in shower and his garments is covered with dust. Put off thy holy mantle and even like him come down on dusty soil.

– Rabindranath Tagore : Geetanjali

❐ God is eternally busy. He is not loafing on his throne till the day of judgement. He is directing infinite atoms of matter, paint the lilies, whirling the stars, putting up the seeds. He is maintaining the accounts of the actions of countless soul and dispensing justice accordingly. My Father Worketh and I work.

– Great Thoughts, April 1934.

अभ्यासोऽपूर्वता लिङ्गतात्पर्यनिर्णये'। अर्थात्– जो बात ग्रन्थ के आरम्भ में कही गई हो, बीच–बीच में बार–बार कही गई हो और अन्त में भी कही गई हो, वही उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य होता है। गीता के उपदेश का आरम्भ **'विसृज्य सशरं चापम्'** (१।४७) की अवस्था में **'धर्मसंमूढचेता'** (२।७) अर्जुन **'न योत्स्ये'** (२।९) अर्थात् 'नहीं लड़ूंगा' कहने पर हुआ और अन्त उसके **'करिष्ये वचनं तव'** (१८।७३) कहने पर हुआ। श्रीकृष्ण का वचन या कथन क्या था जिसके अनुसार अर्जुन ने आचरण करना स्वीकार किया, यह गीता में यत्र–तत्र–सर्वत्र उपलब्ध है। अर्जुन को समझाने के लिए श्रीकृष्ण तरह–तरह की बातें कहते हैं, नये–नये तर्क प्रस्तुत करके कहते हैं– **'तस्मात् युध्यस्व भारत'** (२।१८), **'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः'** (२।३७), **'मामनुस्मर'** (८।७) **एतस्मादुत्तिष्ठ जित्वा शत्रून् भुंक्ष्वं राज्यं समृद्धम्'** (११।३३) इत्यादि। जिस उपदेश ने उपदेश्य को न लड़ने की घोषणा करने वाले अर्जुन को लड़ाई में प्रवृत्त कर दिया, उसे अकर्मण्यता (पढी गीता तो घर काहे को कीता) का प्रेरक या प्रतिपादक कैसे माना जा सकता है? गोलमाल शब्दों में नहीं, अपितु खुले शब्दों में कर्म की प्रेरणा करते हुए कहा – **'कुरु कर्म'** (४।१५) कर्म कर। इतना अवश्य है कि उसके साथ उन्होंने दो शर्तें लगा दीं – एक यह कि सदा कर्त्तव्य कर्म कर और दूसरी यह कि फल की आसक्ति को छोड़कर कर्म कर–

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' (३।१९)

'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु.२।३)

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने में परम प्रमाण श्रुति = वेद है। श्रुति का वचन है– **'अकर्मा दस्युः' (ऋ.१०।२२।८)**। अर्थात् जो अच्छे कर्म नहीं करता वह दस्यु होता है।

दण्डव्यवस्था – कर्त्ता के बिना कर्म नहीं होता और कर्त्ता वह होता है जो **'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्'** अर्थात् करने, न करने या अन्यथा करने में समर्थ हो और इसलिए जिसे तत्तत् कार्य करने के लिए उत्तरदायी माना जा सके। अतः स्वेच्छा से की हुई क्रिया ही कर्म कहाती है। पशुओं को कर्म करने पर उनका फल नहीं मिलता, क्योंकि भोग योनि में होने से उनमें कर्म, अकर्म और विकर्म में भेद करने की योग्यता नहीं होती। पशुओं में चेतना और बुद्धि का अत्यन्ताभाव नहीं होता,

परन्तु उनमें बुद्धि और तर्क शक्ति का वहां तक विकास नहीं हुआ होता जहां कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न उठ सके और उन्हें सदाचार-कदाचार का उत्तरदाता ठहराया जा सके। १-२ वर्ष के मानव बालक को भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के लिए उत्तरदाता नहीं ठहराया जाता, क्योंकि उत्तरदायित्व मस्तिष्क की विशेष विकसित अवस्था पर निर्भर करता है। 5 वर्ष का बालक चोरी के अपराध में जेल नहीं भेजा जायेगा, १२ वर्ष का बालक विशेष प्रकार की जेल में भेजा जायेगा। १९ वर्ष का होने पर जेल भेजा जायेगा, किन्तु हत्या का अपराधी होने पर भी पागल सिद्ध होने पर छोड़ दिया जाएगा या कम से कम प्राण दण्ड नहीं पायेगा। ५ वर्ष का बालक चोरी करने पर जेल तो नहीं भेजा जायेगा, पर साथी की पुस्तक चुराने पर पीटा अवश्य जायेगा। इस प्रकार मनुष्य कर्म करने की स्वतन्त्रता के साथ-साथ अपने बौद्धिक स्तर के अनुसार ही अपने कर्मो के लिए उत्तरदायी होता है।

अनेक पुण्य कर्मों के फलस्वरूप मानवदेह प्राप्त होता है। एक मनुष्य योनि ही ऐसी है जिसमें रहता हुआ जीव अभ्युदय और निः श्रेयस् दोनों की सिद्धि कर सकता है। इसीलिए अन्य योनियों में पापपुण्य के फल भोग कर इस योनि में आता है। इसी योनि में संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मों का निष्पादन संभव है। मोक्षप्राप्ति में साधनरूप होने से इसे सर्वश्रेष्ठ योनि माना जाता है। किसी भी कारण से ऐसे दुर्लभ देह को पाकर उसे अपने हाथों से नष्ट कर देना महापाप माना गया है। हमारी न्याय व्यवस्था में भी आत्महत्या को अपराध माना गया है।

यदि कोई कैदी जेल के कष्टों से घबरा कर जेल से भाग कर सजा से बचना चाहे तो बच नहीं सकता। पकड़े जाने पर शेष अवधि के लिए तो उसे जेल में रहना ही होगा, जेल से भागने के अपराध में उसे अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा। इसी प्रकार किसी तरह की कठिनाइयों या दुःखों से तंग आकर यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है तो पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मिल रहे दुःखों के भोग से तो बच नहीं पायेगा (**ना भुक्तं क्षीयते कर्म**), आत्महत्या के अपराध के कारण उसे, बच जाने की अवस्था में, राजकीयव्यवस्था में तथा मर जाने पर ईश्वरीय व्यवस्था में अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा।

धर्माधर्म की कसौटी - हम जो कुछ करने जा रहे हैं वह

अच्छा है या बुरा, यह जानना कठिन है। जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी काम में लगाता है तो यदि मन में निर्भयता, निःशंकता और आनन्दोत्साह के भाव उठते हैं तो समझ लेना चाहिए कि हम अच्छा काम कर रहे हैं। इसके विपरीत यदि भय, शंका और लज्जा के भाव उठते हैं तो समझ लेना चाहिए कि हम किसी बुरे काम को कर रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके भीतर कोई मार्गदर्शक बैठा है जो उसे हर समय भले-बुरे का ज्ञान कराता रहता है। ऋषि दयानन्द के अनुसार यह प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है। (सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास)- **'एष प्रजापतिर्यद् ब्रह्म'** (बृहद् ५।३।२)। यह दूसरी बात है कि हम अपने हितैषी (क्योंकि परमात्मा सबका कल्याण चाहता है) मार्गदर्शक की बात सुनें या न सुनें। घड़ी तो निरन्तर टिक-टिक करती रहती है। यह ठीक है कि उसके आस-पास शोर होने पर वह हमें सुनाई नहीं देती। फिर भी यदि पास जाकर और कान लगाकर सुनने का यत्न किया जाय तो वह सुनाई दे जाती है। विषय-वासनाओं की तुमुल ध्वनि के कारण लोक में **'हृदय की पुकार'** या **'आत्मा की आवाज'** (Voice of the conscience) कहाने वाली हृदयस्थ आत्मा के भीतर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर की प्रेरणा को हम सुन नहीं पाते, परन्तु इसमें तनिक सन्देह नहीं कि बुरी से बुरी अवस्था में भी और कभी उसकी बात न मानने वाला व्यक्ति भी, यदि चाहे तो, उस आवाज जो सुन सकता है। बड़े से बड़े पापी के मन में भी एक ज्योति दिखाई देती है जिसकी उपेक्षा वह भले ही करे, पर जिसे वह बुझा नहीं सकता। हम कितने ही पतित क्यों न हों, परमेश्वर हमें संभालता है और हमारे अन्धेरे और विद्रोही मन में भी अपने प्रकाश की किरणें डाले बिना नहीं रहता''।★

कर्मस्वातन्त्र्य- श्री अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा है- ''अपने आपको परमात्मा का साधनमात्र समझो। तुम्हारी स्थिति आंधी में उड़ते पत्ते, काटने वाली तलवार या अपने लक्ष्य की ओर छोड़े गये तीर के समान है। तलवार यह निर्णय नहीं करती कि मुझे किसे काटना

★The sinner in the lowest depths of degradation has the light in him which he cannot put out though he may try to stifle it and turn away from it. God holds us, fallen though we may be, by the roots of our being and is ready to send his rays of light into our dark and rebellious hearts.

–Radhakrishnan : Hindu View of Life

है और न तीर यह पूछता है कि मुझे किसकी छाती में जाकर लगना है।''★ यदि श्री अरविन्द की बात ठीक हो तो मनुष्य का सारा दायित्व ही समाप्त हो जायेगा। संसार में भला-बुरा जो कुछ भी हो रहा है, उस सबके लिए परमेश्वर ही उत्तरदायी होगा। सारी न्याय व्यवस्था चौपट हो जायेगी। अतः यह कथन यथार्थ के विपरीत है। जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता है। वह इच्छा, राग, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न आदि गुणों से युक्त चेतन तत्व है। वह परमात्मा के हाथ का खिलौना नहीं है। कर्त्ता होने के कारण वह अपने कर्मों के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी है। वेदादि शास्त्रों के विधिनिषेधात्मक वाक्य जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया है – **'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता'** (श्वेता० ५/७) अर्थात् जीवात्मा फलप्राप्ति के लिए कर्मों का कर्त्ता है। आत्मा स्वयं कर्त्ता न होता तो वह भोक्ता कैसे हो सकता है ? तब उसके लिए कर्मों का विधान व निषेध व्यर्थ होता। विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश होने से स्पष्ट है कि कर्म करने में जीवात्मा स्वतन्त्र है।

कर्मस्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वंचित होकर यदि परमात्मा की अधीनता में रहकर जीवात्मा सब काम उसकी इच्छा और आज्ञा के अनुसार करने पर बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भोक्ता भी परमात्मा होगा। किसी की हत्या करने पर हत्या करने वाले व्यक्ति को दण्ड मिलता है, उसके साधनभूत तलवार, बन्दूक या तीर को नहीं। शासन के आदेश से फांसी देने वाले जल्लाद को हत्या का अपराधी कभी नहीं माना जाता। 'परमात्मा जो चाहता है वही होता है, उसकी आज्ञा के बिना तो कोई कुछ नहीं कर सकता, उसे वही करना पड़ता है जो परमात्मा उससे करवाता है' के सिद्धान्त को मानकर तो कभी किसी को दण्डित नहीं किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाए कि अपराध करने या न करने में मनुष्य तलवार या तीर की तरह परतन्त्र है तो प्रत्येक अपराधी न्यायालय में जाकर **'रामचरितमानस'** से –

★ Learn thou to be the instrument of god. Let thyself be as a leaf in the tempest, as a sword that strikes and the arrow that leaps to its targst. The sword does not choose where it shell strike, the arrow does not ask whither it shall be driven.

–Aurobindo _Essay on the Superman

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करत अन्यथा अस कहीं कोई।।
जेहि जब रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छन होइ।
जाको प्रभु दारुण दुःख देहीं। ताकी मति पहले हर लेहीं।।

यह प्रमाण उद्धृत करके दण्ड पाने से बच जाया करें। किन्तु कोई भी अदालत इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगी – नित्यप्रति अत्यन्त श्रद्धापूर्वक रामायण का पाठ करने वाला न्यायाधीश भी अपराधी को नहीं छोड़ेगा।

इस विषय में श्री अरविन्द के विपरीत डॉ. राधाकृष्णन् के विचार कहीं अधिक युक्तियुक्त तथा तर्कसंगत है। वे लिखते हैं – ''जब लोग शैतान के काम कर रहे हों और ईश्वरीय इच्छा और व्यवस्था के नाम पर सब कुछ ईश्वर के मत्थे मढ़ रहे हों तब कर्म सिद्धान्त परमात्मा को संवैधानिक शासक के रूप में प्रतिष्ठित कर नैतिकता के महत्व पर बल देता है। कर्म कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं, आध्यात्मिक आवश्यकता है। परमात्मा कर्मों का प्रेक्षक है।''★

अनासक्त कर्म – कर्म करना हमारी प्रकृति में निहित है – हम चाहें, न चाहें, कर्म के बिना हम रह नहीं सकते। जब कर्मरूपी बिच्छू मर नहीं सकता तो उसे प्रभावहीन–विषरहित कर देना ही बुद्धिमत्ता है। कर्म तो हो जाये परन्तु उससे होने वाले बन्धन से हम छूट जायें। सांप तो मर जाये पर लाठी न टूटे। कर्मों में से अपनी आसक्ति को हटा लेना– फल की आकांक्षा को छोड़कर कार्य में प्रवृत्त रहना ही इसका एकमात्र उपाय है। हमारा अधिकार कर्म करने तक सीमित है। फल प्राप्त करना हमारे क्षेत्र के बाहर है। जब फल पर हमारा अधिकार नहीं तो उसमें आसक्ति क्यों? फलाशा को त्यागकर कर्म करते रहने पर, आगे कुछ कारणों से कदाचित् कर्म निष्फल रह जाये तो निष्फलता का दुःख मानने का कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि हम तो अपने अधिकार का काम कर चुके। वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार हजारों रोगियों को दवाई देता है। इस प्रकार निष्काम बुद्धि से यदि कोई रोगी मर जाता है तो उसे दुःख नहीं

★ At a Time when people were doing devils work under drivine sanction and consoling themselves by attributing everything to god's will, the principle of karma insisted on the primary of the school and identified god with the rule of law. Karma is not a mechanical process but a spiritual necessity. God is it's supervisor.

–Karmadhyaksha _Hindu View of Life, P. 52

होता। हस्पतालों में यह हर समय होता रहता है। परन्तु जब उसका अपना लड़का बीमार हो जाये और ठीक न हो तो ममतायुक्त फलाशा से उसका चित्त घबरा जाता है। इससे निष्काम कर्म और सकाम कर्म का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से है, फल का भविष्यत् से। वर्तमान से भविष्यत् तक पहुंचने में कितना भी समय लग सकता है। परिस्थितियों में कितना ही अन्तर आ सकता है। अंग्रेजी की एक कहावत है– "There is many a slip between the cup and the lip"–प्याले के होठों तक पहुंचने में कितनी ही बार फिसलने का भय रहता है। इसलिए भविष्य में होने वाले फल के लिए आशा बांध लेना युक्तिसंगत न होने से दुःख का कारण हो सकता है। किसान खून–पसीना एक करके खेती करता है, किन्तु जब फसल पक कर तैयार होती है, तभी टिड्डी दल आकर देखते–देखते लहलहाती फसल चौपट कर जाता है। हमारा अफसर हमारे काम से सन्तुष्ट है। आगामी एक अप्रैल से नया ग्रेड दिलाने का आश्वासन देता है। हमें उसकी ईमानदारी और सामर्थ्य पर पूरा भरोसा है। निकट भविष्य में बढ़ने वाली आय के अनुरूप योजनाएं बनाने लगते हैं। यहां तक कि आश्वासन की विश्वसनीयता और नये बजट के बाद मूल्यों में वृद्धि की आशंका से, कहीं से ऋण लेकर विशेष सुख–सुविधाओं की सामग्री जुटाने में अतिरिक्त व्यय कर डालते हैं। परन्तु ३० मार्च की रात्रि को अचानक हृदयगति रुक जाने से उस अफसर का देहान्त हो जाता है या सरकार बदल जाती है या ऐसी ही कोई अन्य बाधा उपस्थित हो जाती है। हमें लेने के देने पड़ सकते हैं। परिणामतः सिर पीटकर रह जाते हैं।

यही बात साधन और साध्य की पवित्रता के सम्बन्ध में है। हम अपनी कमाई से धन लगाकर मन्दिर या धर्मशाला बनवाना चाहते हैं। हमारा साध्य या लक्ष्य श्लाघ्य है, सर्वथा पवित्र है, परन्तु धन कमाने में हम अनुचित साधनों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते। कमाई के समय उचित या अनुचित साधनों को अपनाने में हम स्वतन्त्र हैं। परन्तु उस धन का उपयोग भविष्य का विषय है। धन हाथ में आ जाने पर वह निश्चित रूप से मन्दिर या धर्मशाला के निर्माणार्थ ही व्यय होगा, इसकी गारण्टी कौन दे सकता है? अकस्मात् हमारी मृत्यु हो सकती है, नियत बदल सकती है या अन्य कोई बाधा आ सकती है। पाप से बचना

हमारे हाथ में था, वह हम कर बैठे। भविष्य की कौन जाने। पाप हमारे खाते में लिखा गया, उसका फल तो मिले बिना रहेगा नहीं। भौतिक जगत् में जिसे कार्य–कारण कहते हैं, आध्यात्मिक संदर्भ में उसे कर्मफल के नाम से अभिहित किया जाता है। अनिवार्यता कार्य– कारण का अटल नियम है। कर्म कारण है, फल उसका कार्य है। कर्म क्रिया है तो फल उसकी प्रतिक्रिया है। जब तक किसी कर्म का फल मिल नहीं जाता तब तक कर्त्ता के खाते में दर्ज रहता है – जन्म – जन्मान्तर तक होता रहता है। फलोपभोग होने पर ही कट सकता है।

अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने के कारण प्रत्येक मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म करता है। यह और बात है कि कोई शुभ कर्म अधिक और अशुभ कम तथा कोई अशुभ कर्म अधिक और शुभ कर्म कम करे।★ पुण्य कर्मों के फलस्वरूप सुख और पाप कर्मों के फलस्वरूप दु:ख मिलता है। दोनों प्रकार के कर्मों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। दोनों का पृथक्–पृथक् फल मिलता है। यदि एक जन्म में से किसी ने १० शुभ और २ अशुभ कर्म किये हों तो २ अशुभ कर्म २ शुभ कर्मों से कट कर अपने जन्म में फल देने के लिए शेष ८ शुभ कर्म बचे रह जायें अथवा यदि किसी ने एक जन्म १० अशुभ और २ शुभ कर्म किये हों तो २ शुभ कर्म २ अशुभ कर्मों से कटकर अगले जन्म में फल देने के लिए ८ अशुभ कर्म ही बचे रह जायें, ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा होता तो वर्तमान जन्म में कोई मनुष्य पूर्णत: सुखी और कोई पूर्णत: दु:खी होना चाहिए था। परन्तु ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। प्रत्येक मनुष्य को जीवन में न्यूनाधिक मात्रा में सुख–दु:ख का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व जन्म में किये शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म इस जीवन में साथ–साथ फलीभूत हो रहे हैं। चोर बाजारी, तस्करी या डाके से प्राप्त धन को परोपकार में लगा देने से किसी के पाप नहीं धुल सकते। ऐसा व्यक्ति दानवीर कहला सकता है, धर्मवीर नहीं बन सकता।

★ Virtuous and vicious every man must be, _ Fewin the extreme but all in degree. _Alexander Pope : Essay on man.

कैसे जियें

मानव समाज में सदा से दो विचारधाराएं चलती रही हैं। एक विचारधारा के अनुसार 'खाओ-पीयो-मौज करो' (Eat, drink and be merry) ही इस जीवन का आदर्श है। चार्वाकों के समान भौतिक अथवा भोगवादी दृष्टिकोण रखने वाले यूनान में **ऐंपिक्यूरियन** कहाते थे। वे खाने के लिए जीते थे, जीने के लिए नहीं खाते थे। वर्तमान में जीने की प्रवृत्ति रखने वाले इन लोगों के मत में जीवन का संपूर्ण आनन्द जितना हो सके जल्दी से जल्दी उठा लेना चाहिए। आगे क्या होगा, कौन जानता है! इसलिए जब तक जीयो सुखपूर्वक जीयो, पैसा पास न हो तो उधार ले लो। शरीर के भस्म होने पर किसका लेना, किसका देना? न लेने वाला फिर कभी यहां आयेगा, न देने वाला।[१] आज से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व बाबर ने इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया था – 'इस जिन्दगी में ऐश करो, दुनिया में दुबारा आने का अवसर नहीं मिलेगा।'[२] और आज से हजारों-लाखों वर्ष पूर्व यही बात वाल्मीकिरामायण में रावण ने सीता से कही थी- '**भुंक्ष्व भोगान् यथाकामं पिब भीरु रमस्व च**' (सुन्दरकाण्ड-२०।२३)

दूसरी विचाराधारा के अनुसार, संसार दुःखों का घर है, यहां जन्म में दुःख है, बुढ़ापा दुःखरूप है, व्याधियां दुःखों का कारण हैं, मृत्यु का दुःख तो सबसे बड़ा दुःख है ही, बार-बार जन्म लेना और बार-बार मरना सब दुःखों का मूल है।[३] योगदर्शन में कहा है- ''मनुष्य जीवन के अन्तिम भाग में बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख, मध्यम भाग में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख और जो दुःख अतीत में पड़ चुके हैं उनकी स्मृति का दुःख, इस प्रकार विवेकी पुरुष के लिए सारा जीवन दुःखों से भरा है और उसके साथ जब गुणों और वृत्तियों का विरोध मिल जाता है तो मनुष्य के जीवन का प्याला दुःखों से भर जाता है।'[४] बौद्ध आदि अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्तक संसार को दुःखरूप मानकर

---

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
२. बाबर बाऐश के आलम दुबारा नेस्त।
३. जन्मदुःखं जरादुःखं व्याधिदुःखं पुनः पुनः।
मृत्युदुःखं महादुःखं तस्माज्जागृहि जागृहि॥
४. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्चदुःखमेव सर्वं विवेकिनः। योग २।१५

इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं- 'नानक दुखिया सब संसार'। दु:ख हेय है। जहां दु:ख ही दु:ख है वहां से हट जाने में ही कल्याण है। संसार दु:खरूप है, इसलिए संसार को त्याग देना चाहिए। **महात्मा बुद्ध** ने आध्यात्मिकता के शिखर पर खड़े होकर आवाज दी तो शंकराचार्य ने **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** का उद्घोष किया। परिणामत: सैंकड़ों-हजारों ने घर बार छोड़कर जंगल की राह ली। **जे.एच.होम्स** ने कहा कि संसार मात्र-धोखा है, उसमें कुछ भी सार नहीं है। किसी भी बुरी वस्तु की तरह उसे छोड़ देना चाहिए। जीवन का रस आत्मा के भीतर ही मिलेगा।★ ऐसे लोग हाड़-मांस से बने शरीर को मल-मूत्र का ढोल मान कर उससे भी घृणा करने की प्रेरणा देते हैं।

संसार के इतिहास में मानव समाज इन्हीं दो विचारधाराओं में बंट कर अपने-अपने मार्ग पर चलता आया है। इनमें एक भोग मार्ग है और दूसरा त्याग मार्ग। भोग में मनुष्यमात्र की- प्राणिमात्र की- स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए जहां शंकर और बुद्ध की बात को सिद्धान्तरूप में स्वीकार करते हुए भी उनके पीछे चलने वाले बहुत नहीं निकले, वहां भोगवादी प्रवृत्ति ने प्राय: सभी को फंसाये रक्खा है।

संसार दु:खरूप नहीं— संसार में दु:ख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। किन्तु आनन्दस्वरूप परमेश्वर की रची सृष्टि में सर्वत्र दु:ख ही दु:ख हो, सुख कहीं भी न हो, यह कैसे संभव है? प्रत्येक प्राणी किसी वस्तु में सुख जानकर ही उसमें प्रवृत्त होता और दु:ख जानकर उससे निवृत्त होता है। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। यदि संसार में दु:ख ही दु:ख होता तो इसमें किसी की प्रवृत्ति न होती। किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक से अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढ़ाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री जुटाने के साधनोपायों के चिन्तन में प्रवृत्त रहता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने पर भी जैसे-तैसे कुछ और काल तक यहां बने रहने के लिए हाथ-पैर मारता है। **'जीवेम शरदः शतम्'** से सन्तुष्ट न होकर **'भूयश्च शरदः शतात्'** सौ वर्ष से भी अधिक काल तक जीते रहने की कामना

★ We are Through with this world. It is all emptiness, vanity and deciet. We shall leave it as we will any evil thing; and we will turn inward to ourselves and seek within our souls the way that leads to life.

करता है। दुःख को सहते हुए भी मनुष्य मौत को भगा कर यहां रहना चाहता है। ऐसा क्यों है? वस्तुतः संसार में सुख-दुःख दोनों हैं, किन्तु दुःख की अपेक्षा सुख अधिक है। '**अकामः न कुतश्चनोनः**'- पूर्णकाम परमेश्वर ने अपने लिए नहीं, अपितु जीव के भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना की है। सुख भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का मिश्रण रहता है, जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है। अतः अपवर्ग की अपेक्षा से भोग हेय है और भोग की अपेक्षा से अपवर्ग (मोक्ष) श्रेयस्कर है। भोग को अपवर्ग के साधनरूप में अपना कर संसार में रहने वाले के लिए संसार दुःखरूप नहीं रह जाता।

'**भोगायतनं शरीरम्**'- शरीर के बिना संभव नहीं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि शरीर के माध्यम से होती है। जैसे शरीर को ही सब कुछ मानना और उसी की सेवा में लगे रहना निन्द्य है, वैसे ही उसकी उपेक्षा करना भी मूर्खता है। कुछ लोग शरीर को दुःखों का मूल मानकर उससे घृणा करने की बात करते हैं। उनकी मान्यता है कि हड्डियों के ढांचे से बना हुआ यह शरीर अनित्य होने से हेय है। इन हड्डियों पर मांस और रक्त से लेपन किया हुआ है और चर्म से ढक दिया गया है। मल-मूत्र की दुर्गन्ध इसमें भरी हुई है। बुढ़ापे और शोक से यह आक्रान्त है। रोगों का घर है। जैसे रजस्वला स्त्री रजोधर्म से अपवित्र होती है वैसे ही यह शरीर भी दूषित रजोगुणी पदार्थों से भरा हुआ है। ऐसे शरीर को त्याग देना चाहिए। परन्तु इसी तथाकथित दूषित शरीर में हमारी इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा भी तो हैं जिनको यह पुष्ट करता और जिनकी यह रक्षा करता है। इसी के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। आत्मा के ज्ञान और प्रयत्न का यही माध्यम है। खाद नितान्त अपवित्र और दुर्गन्धयुक्त होता है, किन्तु पेड़-पौधों में प्रयुक्त होने पर वही गुलाब, चमेली, चम्पा, केवड़ा आदि में सुगन्धित और सुन्दर फूल उत्पन्न करने में सहायक होता है। उसी के कारण पेड़ों पर फल लगते हैं और खेतों में अन्न पैदा होता है। इसी प्रकार अपने आप में अपवित्र रज और वीर्य से सुन्दर और सुडौल शरीरों की रचना होती है और इन शरीरों के द्वारा ही गौतम और कणाद, कपिल और व्यास, पतञ्जलि और जैमिनि, राम और कृष्ण, बुद्ध और महावीर, कबीर और नानक, पाणिनि और यास्क, वाल्मीकि और कालिदास,

शंकर और स्वामी दयानंद जैसे युगपुरुष इतने महान् कार्य कर गये। अतः इस शरीर को निन्द्य या त्याज्य नहीं माना जा सकता। जब तक शरीर आत्मा का साधन है तब तक उसमें कोई दोष नहीं। उसे स्वस्थ तथा सुन्दर बनाकर उसका उचित उपयोग करना हमारा धर्म है। बुराई तब आती है जब हम शरीर को साधन न मानकर साध्य समझ लेते हैं और सर्वात्मना इसकी सेवा में जुटे रहते हैं। यहां तक कि उसकी चाह पूरी करने के लिए नैतिकता का परित्याग कर देते हैं और इसमें आसक्त होकर परब्रह्म से विमुख हो जाते और इस प्रकार मनुष्य योनि के परम लक्ष्यं को भुला बैठते हैं।

भोग और त्याग का समन्वय– वैदिक विचारधारा का दृष्टिकोण त्यागपूर्वक भोग का है। ईश्वर ने इस प्रकाश (सत्व), क्रिया (रजस्) व स्थिति (तमस्) स्वभाव वाले तथा भूत (पांचों स्थूलभूत तथा सूक्ष्मभूत एवं उसके कारण तन्मात्र) और इन्द्रिय (पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा आन्तरेन्द्रिय मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) स्वरूप वाले जगत् को जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिए बनाया है।[१] चेतन आत्मा इसमें भोक्तारूप में उपस्थित रहता है। महर्षि कणाद के अनुसार, जिससे इस जीवन में विभूति प्राप्त हों और उसके पश्चात् मोक्ष मिले, वह धर्म है।[२] जब अभ्युदय का साधन धर्म है तो अभ्यदय अर्थात् प्राकृत पदार्थों का उपभोग कैसे पाप हो सकता है? जीवन की सामान्य आवश्यकताओं से लेकर चक्रवर्ती राज्य तक अभ्युदय के अन्तर्गत है। जब सृष्टि की रचना ही जीव के लिए की गई है तो सांसारिक वस्तुओं का उपयोग करना न केवल अनुचित नहीं, अपितु स्वाभाविक एवं आवश्यक है। मनुष्य द्वारा अपनी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं को बाह्य साधनों से पूरा करने का नाम भोग है। यदि मनुष्य निर्दोष साधनों से अपना भोग्य प्राप्त करे और मर्यादित रूप में उसका उपभोग करे तो तनिक भी दोषी नहीं होगा। बुराई तब होती है जब वह भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए हेय साधनों का उपयोग करता है। जब वैभव के लिए ठगी, शक्ति के लिए क्रूरता और इन्द्रिय सुख के लिए दुराचार आदि का प्रयोग करता है तो वह अपराधी बन जाता है।

जीवन का ध्येय भौतिक कभी नहीं हो सकता। धन, धन के लिए

१. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवगार्थं दृश्यम्। योग २।१८

२. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक १।१।२

नहीं, धन से प्राप्त वस्तुओं को जुटाने के लिए होता है। वस्तुएं, वस्तुओं के लिए नहीं, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जुटाई जाती हैं। शरीर, शरीर के लिए नहीं, उपभोग का साधनभूत होता है। उपभोग भी उपभोग के लिए नहीं, उससे होने वाले सुख या आनन्द को पाने के लिए होता है और यह सुख या आनन्द की अनुभूति भौतिक शरीर का नहीं, अभौतिक आत्मा का विषय है। इस प्रकार जीवन का ध्येय अन्ततः अभौतिक अथवा आध्यात्मिक ठहरता है।

हमारा व्यावहारिक जीवन पदे-पदे अलिप्त होकर- त्यागपूर्वक उपभोग का संकेत करता है। चलना चाहते हो तो पैर को अपने पहले स्थान से उठाकर आगे धरना होगा। चलने वाले का पैर यदि एक स्थान पर चिपक कर रह जाये तो चलना असंभव हो जाये। इस प्रकार आगे बढ़ने का अर्थ है पिछले स्थान को छोड़ना। सीट पर चिपक कर बैठने वाला अपने गन्तव्य पर कभी नहीं पहुंच सकेगा। सड़क चलने के लिए है, डेरा डालने के लिए नहीं। यदि एक जगह जम कर खड़े हो जाओगे तो कोई न कोई वहां से हट जाने के लिए कहेगा। कहने से नहीं हटोगे तो बलात् हटा दिये जाओगे। सार्वजनिक पार्क सबके लिए है। उसमें घूमने फिरने, उसके सौन्दर्य को निहारने, उसमें खिले फूलों की सुगन्ध लेने का अधिकार सबको है, किन्तु वहां के पेड़ -पौधों को उखाड़कर या फूलों को तोड़कर ले जाने या नियत समय के बाद वहां ठहरने का अधिकार किसी को नहीं हैं। दूसरे शब्दों में सड़क, पार्क आदि का समुचित प्रयोग या उपयोग का अधिकार हर किसी को है, किन्तु उन पर स्वत्वाधिकार किसी का नहीं। गाड़ी में बैठकर नियमानुसार यात्रा करने का अधिकार सबको है। किन्तु टिकट के अनुसार अपने गन्तव्य पर पहुंचकर भी स्वेच्छा से स्थान न छोड़ने वाले को बलात् उतार दिया जाता है। इसी प्रकार संसार के पदार्थों को भोगने का अधिकार किसी को नहीं है। न भोगने का नाम त्याग नहीं है, भोग से न चिपटने का नाम त्याग है। भोग तो जीवन के साथ है। दुःख भोग में नहीं, भोग से चिपटने या भोगों को मर्यादित न रखने में है। '**अपरिग्रह**' का अर्थ है परिग्रह का निषेध अथवा किसी वस्तु पर अपनी पकड़ को ढीला करना। हम कितना ही यत्न करें, कोई भोग अन्त तक नहीं टिक सकता। अतः भोगों को भोगकर पीछे हट जाने में ही सुख है। आग में हाथ झोंक देने से हाथ जल जाता है। हाथ को कुछ दूर रखकर सेकने से अपेक्षित ताप मिल

जाता है, हाथ नहीं जलता–'One should warm his hands without burning them.' संसार के पदार्थों का भोग इसी प्रकार अलिप्त रहकर करना श्रेयस्कर है।

यह ठीक है कि संसार के पदार्थ जीवों के भोग के लिए हैं। फिर भी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इन पदार्थों को ईश्वर का ही समझ कर करें। ऐसा विश्वास हो जाने पर मनुष्य प्रत्येक पदार्थ में अपना प्रयोगाधिकार ही समझेगा। 'अमुक पदार्थ मेरा है'–यह ममत्व ही सब दु:खों का मूल है। स्वत्वाधिकार न समझने वाला प्रयोग का समय समाप्त हो जाने पर उन्हें यह कहते हुए छोड़ देता है–

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सब तोर।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर॥

वस्तुतः बुद्धिमान् मनुष्य उतना ही लेना चाहेगा जितना वह न्यायपूर्वक सच्चाई व ईमानदारी से कमा सके, प्रसन्नतापूर्वक दूसरों में बांट सके और सन्तोषपूर्वक छोड़ सके।[१] ये केवल कहने की बातें नहीं हैं। हमारा इतिहास और परम्पराएं इस सिद्धांत की व्यावहारिकता की साक्षी हैं। रघुकुल की तो यह विशेषता थी कि वे त्याग=दान के लिए ही संग्रह करते थे।[२] बादलों के समान देने के लिए ही लेते थे।[३] वनगमन के समय राम की अवस्था का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि राम की आकृति जैसी राज्याभिषेक की सूचना मिलने पर थी वैसी वनगमन का आदेश मिलने पर थी।[४]

भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा वर्तमान और भविष्यत् के समन्वय को लेकर ही भारतीय मनीषियों ने मनुष्य समाज को चार वर्गों में और व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था। चार वर्गों या वर्णों में वैश्य केवल पैसा कमाता था और उसके लिए यह व्यवस्था थी कि जिस प्रकार सारा भोजन पेट में ही जाता है, परन्तु पेट उसे अपने पास न रखकर रस–रक्त आदि के रूप में शरीर के सभी अंगों में बांट देता है, उसी प्रकार वैश्य अपनी कमाई सारे समाज में बांट देता है। भोजन पेट में पड़ा रहने से शरीर रोगी हो जाता है। सारी सम्पत्ति का केवल वैश्य के पास जमा रहना समाज में असन्तोष और असन्तुलन का कारण बन कर समाज को रोगी बना देता है। इसलिए वैश्य समाज के न्यासी या ट्रस्टी के रूप में सम्पत्ति का अधिकारी होकर भी उसका यथोचित वितरण करता है।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास- इन चार वर्णों में केवल गृहस्थ पैसा कमाता था , शेष तीनों आश्रम त्याग के थे। चारों वर्णों के लोग गृहस्थ हो सकते थे, संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण या विद्वान् को था। वानप्रस्थ का अधिकार भी सबको था। राजा भी समय आने पर वनस्थ होते थे। रघुवंश में रघुवंशियों के लिए वानप्रस्थ की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए कालिदास ने लिखा है-'**वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्**'। जब रघु बूढ़ा हो गया और उसका पुत्र अज विवाह करके घर आया तो कालिदास कहता है-'**न हि सति कुलधूर्ये सूर्यवंश्या गृहाय**' अर्थात् यदि कुल की धुरी , कुल का स्तम्भ अर्थात् पुत्र घर में हो तो सूर्यवंशी राजाओं के घर में रहने की प्रथा नहीं है। जिस समय शकुन्तला का दुष्यन्त से विवाह हुआ तो विदा होते समय उसने पिता कण्व से पूछा कि अब आप मुझे कब बुलायेंगे तो ऋषि कण्व ने उत्तर दिया-'देर तक राज्य करती-करती जब तू अपने लड़के को गद्दी पर बैठा देगी, तब अपने पति के साथ वानप्रस्थिनी बन कर इस आश्रम में आना।'[१]

यज्ञ के मूल में भी त्याग भावना अनुस्यूत है-वह त्याग भावना का अपर नाम अथवा उसका मूर्त्तरूप है।

मृत्यु

वेद का वचन है—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैतद्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥

ऋ. १०।१८।२

हे सांसारिक लोगो! इस मृत्यु से मत घबराओ। मृत्यु के बढ़ते चरण को अपने जीवन से परे धकेल दो। आओ, अपने सुचरित से दीर्घ जीवन प्राप्त करो=प्रकृष्ट जीवन व्यतीत करो। शुद्ध, पवित्र यज्ञीय जीवन बिताते हुए प्रजा, धन तथा सब प्रकार के सुखदायी ऐश्वर्य से सदा तृप्त बने रहो।

वेद ने कह दिया—'मृत्यु को परे धकेल दो' पर यह कैसे हो सकता है? '**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**' (**गीता २।२७**) जो पैदा हुआ है, वह मरेगा अवश्य। मृत्यु तो अपरिहार्य है, अवश्यंभावी है। तब उससे कोई कैसे बच सकता है? गीता कहती है कि जब तुम जानते हो कि एक न एक दिन मरना पड़ेगा तो फिर उससे डरना क्या?

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि। गीता २।२७

जिसे हटाया नहीं जा सकता, उस विषय में शोक नहीं करना चाहिए। परन्तु

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। योग. २।९

अपने संस्कारों के वशीभूत 'अभिनिवेश' नामक मृत्यु-भय विद्वान् और मूर्ख सबको समान रूप से भयभीत करता है और जैसे भी हो प्राणीमात्र उसे भगाने का यत्न करता है। मानव जीवन में मृत्यु जैसी भयानक और अवश्यंभावी वस्तु अन्य कोई नहीं। कोई अपने को खोना नहीं चाहता— कोई अपना अस्तित्व मिटाना नहीं चाहता। मृत्युशय्या पर पड़ा व्यक्ति भी अन्तिम श्वास तक जीने के लिए हाथ-पैर मारता रहता है। सगे सम्बन्धी और संगी साथी भीं जब तक सांस तब तक आस लगाये रहते हैं। परन्तु जीवन के हर क्षेत्र में आशातीत उन्नति कर लेने पर भी मनुष्य यह नहीं जान पाया कि मृत्यु कब, कहां उस पर हमला कर देगी। इसलिए कोई बिरला ही इस भय से मुक्त होकर चिन्तन करने में समर्थ होता है। जो चिन्तन करके मृत्यु के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है वह उसे प्रभु का वरदान समझ कर इसका स्वागत करता है।

काम करते-करते जब आदमी थक जाता है तो उसे आराम देने के लिए निद्रा आ जाती है। इससे थकावट दूर हो जाती है और मनुष्य नये सिरे से काम करने के लिए शक्ति प्राप्त कर लेता है। निद्रा की अवस्था में शरीर के आन्तर-बाह्य सभी अंगों को विश्राम मिल जाता है। स्वप्नावस्था में मन अवश्य अपनी उधेड़ बुन में लगा रहता है, परन्तु गाढ़ निद्रा की अवस्था में वह भी आराम करने चला जाता है। किन्तु प्राण तब भी अपना काम करता रहता है उसे कभी पल भर के लिए भी विश्राम की आवश्यकता नहीं है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दयालु भगवान् ने मृत्यु की योजना बनाई है। असहज पीड़ा और कष्ट के कारण जब मनुष्य त्राहि-त्राहि कर उठता है तो उनसे छुटकारा दिलाने के लिए मृत्यु आती है। जिस शान्ति को संसार नहीं दे सका उसे मृत्यु प्रदान करती है। जीवन में एक समय ऐसा आता है जब खाट पर पड़े-पड़े हर समय खांसने-खखारने वाले बूढ़े से हर कोई घृणा करने लगता है। उस अवस्था में मृत्यु आती है और नया जन्म देकर हर किसी के हाथ का खिलौना बना देती है जिससे सब दूर भागते थे उसी को अब हर कोई गोद में लेने को लालायित है। मरना तो नये जीवन का आरम्भ है। एक

शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश पाने में जो समय लगता है, यह ही प्राण के विश्राम का काल है। दूसरे शरीर में प्रवेश करते ही वह फिर अपने काम में लग जाता है। पुराने, नीरस और उबाऊ काम को एक तरफ करके जीवात्मा नये और पहले से अच्छे काम को शुरू करता है। पर अपनी नासमझी के कारण इस समस्त प्रक्रिया में साधनभूत मृत्यु को आता जानकर उससे आतंकित हो हम वैसे ही बचते फिरते हैं जैसे गिरफ्तारी के वारंट की सूचना मिलने पर। **किमाश्चर्यमतः परम्!**

एक प्रकार से मृत्यु तो प्रतिक्षण होती रहती है। हमारे शरीर का कोई न कोई अंग हमसे सदा ही अलग होता रहता है। रसायनशास्त्र के अनुसार हमारा शरीर ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन, चूना, गन्धक, पोटाश, फासफोरस, लोहा आदि रासायनिक पदार्थों से बना है। सृष्टि की रचना भी इन्हीं तत्वों से होती है। शरीर के रासायनिक परमाणु सतत क्षीण होते रहते हैं और उनकी पूर्त्ति सृष्टि में व्याप्त परमाणुओं से होती रहती है। यह क्रम अबाध गति से चलते रहने पर भी उसका आभास नहीं होता। शरीरशास्त्रियों का कहना है कि शरीर के परमाणु या कोशिकाएं (cells) प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। सात वर्ष में पूरे का पूरा शरीर बदलकर दूसरा बन जाता है। यहआमूल-चूल परिर्वतन जीवन में कई बार होता है। तथापि यह परिवर्तन इतना धीरे-धीरे और सूक्ष्म होता है कि हम इसे अनुभव नहीं कर पाते। जब तक शरीर के परमाणु बारी-बारी और धीरे-धीरे निकलते रहते हैं तब तक हमें उसका बोध नहीं होता। फिर एक समय वह आता है जब पुराना सब टूट जाता है, नया बनता नहीं। तब एक दिन शरीर के भीतर होने वाला यह व्यापार एक बारगी बन्द हो जाता है। तब यह शरीर न पानी पीता है, न भोजन करता है और न सांस लेता है। इसी का नाम मृत्यु है। शरीर और आत्मा के संयोग को जन्म कहते हैं और उनके वियोग को मृत्यु।

फिर भी संसार मृत्यु से डरता है। क्यों? इसके अनेक कारण हैं, जैसे-

१. मृत्यु का अर्थ न समझना।
२. जन्मान्तर की स्थिति का निश्चय न होना।
३. मृत्यु के समय होने वाले शारीरिक कष्ट की कल्पना।
४. मोह-ममता।
५. तृष्णा।
६. कर्मफल की चिन्ता।

झरना निरन्तर गतिशील है। जल के परमाणु आते हैं और चले जाते हैं। झरने की दृष्टि से जल के परमाणुओं का चला जाना उनका विनाश है, किन्तु नदी या समुद्र की दृष्टि से नहीं। गाड़ी के चले जाने के बाद विदा (see off) करने के लिए लोग कहते हैं—'देवदत्त गया।' घर पहुंचने पर घर वाले कहते हैं—देवदत्त आ गया।' दिल्ली वाले कहते हैं 'गया' तो कानपुर वाले कहते हैं—'आया'। कानपुर के स्टेशन पर प्रतीक्षा में खड़े लोग दूर से ही देख चिल्ला उठते हैं—'गाड़ी आई'। यह वही गाड़ी है जिसे कुछ देर पहले लखनऊ वालों ने कहा था—'गाड़ी गई'। जिसके जाने पर लोग छाती पीट-पीट कर रोये थे, अन्यत्र ढोलक बजा-बजा कर उसी के आने पर मंगल मनाया जा रहा है। जो एक के लिए मरना है, वही दूसरे के लिए जीना है।

तेल, बत्ती, वायु और अग्नि के संयोग से दीपक जलता है। जब तेल व बत्ती नहीं रहते तो दीपक बुझ जाता है, उसकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु यह समझना कि तेल और बत्ती नष्ट हो गये, मूर्खता होगी। वस्तुतः उनका रूपान्तर हुआ है। जिन परमाणुओं से उनका निर्माण हुआ था, रूपान्तरित होकर वे उन्हीं में विलीन हो गये। यही स्थिति हमारे शरीर की है। उसमें नित्य परिवर्तन होता रहता है। 'बचपन, जवानी और बुढ़ापा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी अवस्थाक्रम की अगली अवस्था मृत्यु है।'[१] तब उसमें दुःख किस बात का? जन्म-मरण के आवर्तमान चक्र का न अथ है, न इति। मृत्यु नहीं होगी तो जन्म भी नहीं होगा। जीवन को गतिशील बनाये रखने के लिए मृत्यु अनिवार्य है। टूटा-फूटा घर अच्छा नहीं लगता, नया घर चाहते हो, तो पुराने को ढहाना पड़ेगा। उसी जगह नया घर बनेगा। जहां जीवन, वहां मृत्यु है। उसका वरण चाहे कोई हँसके करे या रोकर-उसे टाला नहीं जा सकता, क्योंकि मृत्यु शरीरधारियों का स्वभाव है।[२] सुकरात ने कहा था-'मैं मरूं या न मरूं, यह मेरे वश में नहीं है, किन्तु मैं हँसता हुआ मरूं या रोता हुआ, यह मेरे वश में है। इसलिए मैं इस बात के लिए प्रयत्नशील रहूंगा कि मैं हँसता-हँसता मरूं।' सुकरात के इस कथन की प्रतिध्वनि कबीर के इस दोहे में है-

आये थे जब जगत् में जग हँसा तुम रोये।
ऐसी करनी कर चलो तुम हँसो जग रोये॥

१. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ गीता २।१३
२. मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम् विकृति जीवितमुच्यते। कालिदास

मरणोन्मुख व्यक्ति को अपने कृत्यों का दर्शन सिनेमा की रील की भांति होता है। मृत्यु को सन्निकट देखकर उसके स्मरण मात्र से मनुष्य काँप उठता है। अपने कर्मो के भयंकर रूप को देख और उनके संभावित फल की कल्पना करके वह छटपटाने लगता है। उस अवस्था में जीवन के पन्नों को पलटते हुए अपने कुकृत्यों को देख-देख कर संत्रस्त हो उठता है। जो जीवन भर मृत्यु को भूले रह कर दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, समय रहते लेखा-जोखा नहीं करते, अन्तिम वेला में उनके हाथ निराशा ही लगती है। जिन्हें अपनी असफलता निश्चित दीखती है, वे परीक्षा काल में भागने की चेष्टा करते हैं। जब वे नहीं पाते तो डर के मारे काँपने के सिवा और क्या कर सकते हैं? इसके विपरीत जो मृत्यु को सदा सन्निकट जानकर कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, वे निर्भय होकर सहर्ष मृत्यु को गले लगाते हैं।

सेवा से निवृत्त (Dismiss) किये जाने पर तो दुःख होना स्वाभाविक है। परन्तु वैसा दुःख स्थानान्तरण (Transfer) में नहीं होता। यदि मनुष्य को यह विश्वास हो जाये कि वह मरता कभी नहीं, केवल पुराने कपड़े उतारकर नये पहन लेता है तो वह मरने से क्यों डरेगा?[१] कपड़े तो लोग बदलते रहते हैं किन्तु कपड़े बदलते समय किसी को रोते नहीं देखा। पुराने मकान को छोड़कर नये मकान में जाने में भी कोई दुःखी नहीं होता। तैर कर पार होने वाला डूबता नहीं, दूसरे किनारे पर जाकर फिर अपने काम में लग जाता है।[२] शरीर के परिणामी और आत्मा के उससे भिन्न होने का रहस्य जान लेने पर मृत्यु भयावह नहीं रहती।

सरकारी कर्मचारियों का स्थानान्तरण होता रहता है। यदि उसे प्रोन्नत (Promote) करके सुखद स्थान पर भेजा जाता है तो वह प्रसन्नतापूर्वक जाता है। किन्तु यदि अवनत (Demote) करके पूर्वापेक्षया असुविधाजनक स्थान पर भेजा जाता है तो उसका विरोध करता है। देहान्तर प्राप्ति की तुलना पुराने कपड़े छोड़कर नये कपड़े पहनने से की जाती है। यदि पहले से अच्छे कपड़े मिल रहे हों तो पुराने कपड़े उतारने

---

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यानि संयाति नवानि देही॥ गीता २।२२

२. The last day (death) does not bring extinction, but a change of place._Cicero.

में उसे दु:ख नहीं होगा। जिसके काम का रिकार्ड ठीक है अर्थात् जिसकी फाइल में कोई अवांछनीय टिप्पणी (Adverse entry) नहीं है और अधिकारी प्रसन्न है तो कर्मचारी को बुलाकर कह सकता है कि नियमानुसार तुम्हारा स्थानान्तरण का समय आ गया है। तुम जहां कहो वहां भेजना अवश्य मेरे हाथ में है (Your transfer is due but I can send you to a place of your choice).

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले।
खुदा बन्दे से ये पूछे बता तेरी रजा क्या है॥

जिस मनुष्य को यह विश्वास है कि जीवन में मैंने कभी कोई दुष्कर्म नहीं किया, सदा कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त रहा हूं, इसलिए मुझे सद्गति मिलेगी, वह शान्त मन से मृत्यु का आलिंगन करता है।

जन्म का पापी है जो डरता वही काल से।
जिसका खाता साफ है क्या डर उसे पड़ताल से॥

इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह नया शरीर पाकर पूर्वापेक्षया अधिक सत्यनिष्ठ और परोपकारी जीवन पाने की आशा से उत्साहित होकर हँसते-खेलते मृत्यु का स्वागत करता है। इसके विपरीत जिन्होंने जीवन में अच्छे कर्म नहीं किये होते वे अगले जन्म में मिलने वाली अन्धकारमय (**अन्धेन तमसावृता**) योनियों और यातनाओं से घबरा कर भयभीत होते हैं। देशभक्तों के हँसते-हँसते और महमूद गजनवी के रोते-बिलखते और संज्ञाहीन होकर फांसी पर चढ़ने में उनके अतीत में किये गये फलस्वरूप मिलने वाले भावी जीवन के प्रति विश्वास और आशंका बहुत बड़ा कारण है। पहले से तैयार सत्कर्मों की नौका पर चढ़ कर परलोक की यात्रा करने वाले को डूबने का भय नहीं सताता।

जब हमारा शरीर विदा होता है तो प्राण शरीर से उत्क्रमण करता है। हमारे शरीर में कुल ७२ करोड़ ७२ लाख नाड़ियां बतायी जाती है[१] जिनमें प्राण संचरण करतेहैं। मरणवेला में जब प्राण इन सभी नाड़ियों में से एक साथ निकलता है तो समूचे शरीर में एक विशेष प्रकार का तनाव पैदा होता है। शरीर का एक-एक अंग प्रत्यंग टूटने लगता है। ऐसे समय में असह्य वेदना का अनुभव होना अवश्यंभावी है। जब चित्त को

१. हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। प्रश्न. उप. ३।६ अर्थात् १०१ गुण १०० गुणा ७२०००=७२७२०००००

एकाग्र किया जाता है तो प्राण ऊपर की ओर गति करने लगता है। प्राणों की इस प्रकार ऊपर उठने की क्रिया को प्राणोत्थान कहते हैं। प्राणों के उत्क्रमण का अभ्यास करके योगिजन स्वेच्छा से प्राणों को उत्क्रमित करके ब्रह्मरन्ध्र (मस्तिष्क) में स्थापित कर लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों को प्राण निकलते समय होने वाले कष्ट से छुटकारा मिल जाता है और वे हँसते-हँसते शरीर से विदा होते रहते हैं।

शास्त्रों में तीन प्रकार की एषणाएं होती हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। इनके बिना संसार का व्यापार-विस्तार नहीं चल सकता। इसलिए इन्हें मनुष्य के लिए आवश्यक बताया है। एषणा का आतिशय्य तृष्णा कहाता है। दोनों में मन की एक ही वृत्ति काम करती है। परन्तु जहां एषणा का प्रयोग सीमित दायरे में होता है, वहां तृष्णा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। संग्रह की प्रवृत्ति मनुष्य का स्वभाव है। जब उस प्रवृत्ति की अतिशयता कुण्ठा में परिवर्तित हो जाती है तो अपरिमित चाह का मनुष्य के मन पर आधिपत्य हो जाता है। तब उससे लोभ, मोह, राग, स्वार्थ, वासना, लोलुपता आदि सभी का पोषण होता है। चाह कभी पूरी नहीं होती। यह अत्यन्त चाह मृत्यु के समय कुण्ठा में परिवर्तित होकर मनुष्य के असीम दुःख का कारण बन जाती है। योगवासिष्ठ में भगवान् राम कहते हैं—"हे ब्रह्मन्! जीवों के हृदय में स्थित तृष्णा-जैसी तीक्ष्ण न तो तलवार की धार है, न अग्नि की चिंगारियां और न बन्दूक की गोलियां। संसार में जितने भी दोष हैं उनमें एक तृष्णा ही दीर्घकालीन दोष है, दुःख है जो अन्तःपुर में रहने वाले को भी भीषण संकट में डाल देती है।"[१] गीता के अनुसार तृष्णा व आसक्ति की उत्पत्ति रागरूप रजोगुण से हाती है[२] जिससे जीवात्मा कर्मों[३] तथा उनके फल की आसक्ति से बन्ध जाता है। रजोगुणी होने से उसमें स्थिरता नहीं है, इसलिए उसे सीमा में नहीं बांधा जा सकता। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि "तृष्णा लता के समान बढ़ती ही जाती है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक वह ऐसे दौड़ती है जैसे बन्दर एक फल से दूसरे फल की इच्छा से वन में कूदता फिरता है।" समस्त दुःखों का मूल

१. नास्ति धारा न वज्रार्चि न तृप्यायः कणर्चिषः। तथा तीक्ष्णा यथा ब्रह्मंस्तृष्णेयं हृदि संस्थिता॥
सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा। अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥

२. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्। गीता २३।७

३. धम्मपद, तण्हावग्गो

तृष्णा को मानते हुए महात्मा बुद्ध ने उपदेश सुनने के लिए आये हुए अपने भक्तों से कहा कि यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो तृष्णा की जड़ को खोद डालो।[१]

भोग और त्याग का समन्वय वैदिक आदर्श है। वर्णाश्रम व्यवस्था तथा यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला सभी एषणाओं से स्वतः मुक्त होजाता है। संन्यास की दीक्षा लेते समय जब दीक्षार्थी यह घोषणा करता है— **'पुत्रैषणा मया परित्यक्ता, वित्तैषणा मया परित्यक्ता, लोकैषणा मया परित्यक्ता' (शतपथ १४।६।४।१)** तब यह स्पष्ट हो जाता है कि तृष्णा का मन पर अधिकार न होने देने में वह सफल हो गया है और संन्यास आश्रम में प्रवेश उसकी इस सफलता की सार्वजनिक घोषणा है। जीवन पर्यन्त जूझते रहने पर ही तृष्णा पर विजय पाई जा सकती है और मृत्यु के भय या कष्ट से मुक्ति मिल सकती है।

जिस राग से तृष्णा उत्पन्न होती है उसी से मोह–ममता की उत्पत्ति होती है। सुख में अथवा उसके साधन में जो लाभ होता है वह 'राग' कहाता है **(सुखानुशयी रागः– येग २।७)**। राग के कारण किसी वस्तु के प्राप्त करने की चाह को एषणा और उसके आतिशय्य को तृष्णा कहते हैं। उसके पकड़े रहने या न छोड़ने की वृत्ति मोह कहाती है और उससे जो सम्बन्ध सूत्र बनता है, वह ममता कहाता है। कितने ही लोगों को मरते देखा–सुना जाता है, किन्तु हमें दुःख नहीं होता। किसी पड़ौसी या परिचित की मृत्यु की सूचना मिलने पर दुःख अवश्य होता है, किन्तु क्षणिक । पर जब हमारे किसी घनिष्ठ,सम्बन्धी या सन्तान की मृत्यु होती है तो हम पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। जिस कारण यह अन्तर होता है उसी को मोह–ममता कहते हैं। हम रोते हैं, पर मृतक के लिए नहीं, उसके साथ अपने सम्बन्ध और उस सम्बन्ध से अपने को होने वाले सुख के लिए रोते हैं **''आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'' (बृहद्. उप.)**। जब किसी एक के बिछुड़ने पर हमें इतना दुःख होता है तो जिसे मृत्यु के कारण घर–द्वार, धन–सम्पत्ति , सगे–सम्बन्धी, बाल–बच्चे आदि सभी को एक साथ छोड़ना पड़ रहा हो, उसके दुःख का क्या ठिकाना? मृत्यु से भयभीत होने के इस कारण को दूर करने के लिए भोग और त्याग के समन्वय पर आधारित

१. तं वो वदामि भद्दं वो यावन्नेथ समागता। तण्हायमूलं खणथ उसीरत्थो व वीरणम्॥ धम्मपद, तण्हावग्गो ६६

आश्रम व्यवस्था में वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों का विधान किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम की २५ वर्ष की अवधि में माता पिता आदि दूर गुरुकुल में, वानप्रस्थ आश्रम के २५वर्षो में सब प्रकार के सम्बन्धों का परित्याग करके यत्र-तत्र-सर्वत्र विचरण करने वाले जो लोग जीते जी क्रमशः सबसे मोह-ममता का नाता तोड़ने का अभ्यास करते हैं, उन्हें मरणकाल में मोह-ममता के कारण होने वाला दुःख कैसे सता सकता है ?

जब मृत्यु अवश्यंभावी है तो उससे बचने का उपदेश क्यों दिया जाता है ? क्यों उसके लिए प्रार्थना की जाती है-'**मृत्योर्मा ऽमृतं गमय**' (बृहद्. उप.१ ।३ ।२८) ?

वस्तुतः जो दुःख आगत है अर्थात् आ चुका है और भोगा जा चुका है, वह तो भोगे जाने से समाप्त हो गया। जो दुःख वर्तमान में चालू है उसे बीच में रोका नहीं जा सकता। उसे भोग कर ही उससे छुटकारा मिल सकता है। पैदा तो हम हो चुके और जो पैदा होता है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है, इस न्याय के अनुसार इस जीवन में हम मृत्यु से कदापि नहीं बच सकते। ऐसी अवस्था में महषि पतञ्जलि का कथन है-'**हेयं दुःखमनागतम्**' (योग० २ ।१६) जो दुःख अनागत है अर्थात् अभी आया नहीं है, आगे आने की संभावना है, उसे दूर करने के लिए उपाय करो जिससे वह न आने पाये। फलतः अनागत दुःख को ही 'हेय' कहा गया है। पैदा होने वाले को मरना ही होगा। जो बार-बार पैदा होगा वह बार-बार मरेगा। इसलिए ब्रह्मवेत्ता ऋषियों ने इस महत्तम दुःख का सूक्ष्मैक्षिका से विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला कि वर्तमान में मरने के बाद फिर न मरना पड़े इसके लिए जन्म का निरोध करना होगा। जब तक जन्म होता रहेगा तब तक मृत्यु को नहीं रोका जा सकेगा। अतः 'अभिनिवेश'=मृत्यु क्लेश से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय यही है कि जन्म के क्रम को रोका जाय। जब तक जन्म नहीं रुकेगा तब तक न मरण रुकेगा और न मरणत्रास। इस रहस्य को न समझ पाने के कारण मैक्समूलर ने लिखा-

You see here (In India) the fear of another life, the fear, not of death, but of birth runs through the whole of indian philosophy. Maxmuller. The Vedanta philosophy.

महर्षि गौतम ने अपने '**न्याय दर्शन**' में इस विषय का तर्क प्रतिष्ठित करते हुए लिखा है-

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ।२

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के उत्तर–उत्तर के आगे–आगे के नष्ट हो जाने पर उसके अनन्तर के=अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने से मोक्ष होता है।

सूत्र में समस्त–असमस्त चार पद हैं। पहले समस्त पद में दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान–ये पांच पदार्थ कहे हैं। इस प्रकार दुःख का कारण जन्म,जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण दोष और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है तो यह एक तर्कपूर्ण व्यवस्था है कि कारण का नाश हो जाता है। फलतः मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश दोषों के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुःखों का नाश संभव है।

योग के अनुष्ठान द्वारा जो अपने आपको जन्म–निरोध के योग्य बना लेते हैं वे मृत्यु को हितकारी जानकर एक बार उसका अभिनन्दन करके सदा के लिए उसे विदा कर देते हैं।

इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के दशम मण्डल के अठारहवें सूक्त के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं–

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥१ ॥

भावार्थ–मारने वाला काल पुनः–पुनः जन्म धारण करने वाले साधारण जनों को पुनः–पुनः मारता रहता है। परन्तु देवयान=मोक्षमार्ग की ओर जाने वाले मुमुक्षुओं को पुनः–पुनः या मध्य में नहीं मारता। उन्हें पूर्ण आयु प्रदान करता है।

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैतद्राधीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥२ ॥

भावार्थ– अध्यात्म यज्ञ करने वाले मुमुक्षुजन मृत्यु के कारणरूप अज्ञान और विषयसेवन को त्यागते हैं और स्वास्थ्यपूर्ण लम्बी आयु को प्राप्त करते हैं। सन्तान तथा ऐश्वर्य से भरपूर होते हुए शुद्ध तथा पवित्र अन्तःकरण वाले बन जाते हैं।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नोअद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राधीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥३ ॥

भावार्थ–जो जीव मृत्यु के कारणों– अज्ञान व विषयसेवन=से अलग हो जाते हैं वे अपने जीवन में परमात्मा की कल्याणकारी स्तुति

करते हुए दीर्घ तथा स्वास्थ्यपूर्ण आयु प्राप्त करते हैं और जीवन का हर्ष, विनोद श्रेष्ठ मार्ग पर चलते हुए पाते हैं।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरां अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥४॥

भावार्थ-परमात्मा दीर्घ जीवन चाहने वाले मुमुक्षुजनों के लिए नियत परिधि बनाता है। कोई भी मुमुक्षु उसमें रहकर शीघ्र मृत्यु का ग्रास नहीं बनता, और सौ या अधिक वर्षों तक जीता है। ब्रह्मचर्यरूप पर्वत को मृत्यु नहीं लांघ सकती।

भस्मान्तरं शरीरम्

मूलतः ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों ही अमृत हैं। 'अमृत' शब्द का धात्वर्थ है- **'यो नः मृतः'** अर्थात् जो नहीं मरा। ईश्वर, जीव और प्रकृति में से कोई कभी नहीं मरता। जो मरता नहीं वह उत्पन्न भी नहीं होता। इसलिए तीनों ही नित्य हैं। परन्तु तीनों की अमरता का स्वरूप भिन्न है। प्रकृति अमर है, किन्तु परिणामी होने से दिन-रात बदलती रहती है, जीवात्मा अमर है किन्तु सामान्य दशा में उसके एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को धारण करते रहने से उसके जीने-मरने का भ्रम होता है, क्योंकि आत्मा का शरीर से संयोग जन्म और वियोग मुत्यु कहाता है। यदि कायापलट का नाम मुत्यु है तो प्रकृति और जीवात्मा इससे सर्वथा मुक्त नहीं है। नित्यता ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों में समान है, चेतनता ईश्वर और जीवात्मा में समान है, किन्तु आनन्द केवल ईश्वर में है। इस प्रकार जहां प्रकृति केवल सत् है, वहां जीवात्मा सच्चित् तथा परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है।

मृत्यु अवश्यंभावी है। जब मृत्यु आयेगी तो शरीर का प्राणवायु निकल कर विश्व के प्राण में विलीन हो जायेगा, क्योंकि विश्व की प्राणशक्ति ही शरीर में काम कर रही है। वायु उपलब्ध है। भाव यह है कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश नामक जिन तत्त्वों से शरीर का निर्माण हुआ है वे सभी अपने मूल में विलीन हो जाते है। विज्ञान का अटल नियम है कि वस्तु तत्वतः नष्ट नहीं होती, रूपान्तरित होती है। शरीर तो भौतिक तत्वों से=परमाणुओं के संयोग से बना है। एक समय आता है जब इन परमाणुओं का वियोग होने से शरीर नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने कारण में लय हो जाता है। पर चेतन-आत्मा तो परमाणुओं में खण्ड-खण्ड होकर विलीन नहीं हो सकता। शरीर के न रहने पर भी

वह ज्यों का त्यों बना रहता है और एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। शरीर के रूपान्तरण को '**पुर्नजन्म**' कहते हैं।

मृतदेह का क्या किया जाय, इस विषय में संसार में अनेक प्रथायें प्रचलित हैं जिनका विवरण यहां हम श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की पुस्तक 'संस्कार चन्द्रिका' से उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करते हैं–

१. ईजिप्ट में मुर्दे को मम्मियों की तरह सुरक्षित रखना– अनेक जातियों में यह समझा जाता रहा है कि जब कोई मर जाता है, तब उसका शरीर से सम्बन्ध सदा के लिए नहीं छूटता। शरीर के साथ उसका सम्बन्ध किसी अदृश्य तौर पर बना रहता है। अगर मृत आत्मा का इस लोक तथा इस देह से नाता बना रहता है तो यह भी मानना पड़ता है कि मृत व्यक्ति से भय तथा उसके प्रति प्रेम, ये दोनों भावनायें मनुष्य को नहीं छोड़ती। यही कारण है कि ये जातियां मृत देह को किसी न किसी प्रकार सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती हैं। यह शायद इसलिए है, क्योंकि आत्मा की अमरता का विचार मनुष्य के लिए एक प्रिय विचार है और यदि आत्मा अमर है, तो अविकसित मन के लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि वह आत्मा के लिए उसके शरीर की जिस किसी उपाय से भी हो सके रक्षा करे ताकि वह शरीर आत्मा के काम आ सके। अनेक जातियों में मृत देह को भूमिसात् करते हुए उसके बर्तन, उसके खाने का सामान, उसका फर्नीचर आदि सब उसके साथ रख देने की प्रथा है। कई जातियों में बच्चे के मरने पर स्त्रियां अपने स्तनों से दूध निकालकर उसके मुंह में भर देती है ताकि बच्चा उस दूध का सेवन कर सके। बुलगेरिया में वहां का पुरोहित कब्र बनाता हुआ उसमें एक छेद रख देता था ताकि उसमें से मृत व्यक्ति को पानी तथा भोजन पहुंचता रहे। कई जातियों में जब उनका मुखिया राजा मरता था तब उसकी कब्र इतनी बड़ी बनाई जाती थी कि उसके गुलाम और स्त्रियां भी उसमें मार कर वहां रक्खी जा सकें। कभी–कभी मारकर और कभी–कभी मुखिया की जीवित पत्नियों को मृत व्यक्ति के साथ गाड़ दिया जाता था ताकि वे उसके काम आ सकें।

इन सब प्रथाओं का मूर्तिमान् उदाहरण इजिप्ट के ममी (Mummies) हैं। प्राचीन ईजिप्शियनों को सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की होती थी कि अपने मृत राजा का शरीर किस प्रकार औषधियों से अनुभावित (annoint) करें ताकि मृत व्यक्ति की आत्मा का परलोक

(Osiris) से इस लोक के अपने शरीर के साथ आना जाना बना रहे। यही कारण था कि शरीर को जलाते नहीं थे, कब्र में सुरक्षित रखते थे। ईजिप्ट में इन राजाओं की जिन्हें फैरोहा कहा जाता था बड़ी-बड़ी कब्रें बनी हुई हैं जिन्हें पिरेमिड (Pyramids) कहा जाता है। इन पिरेमिडों में प्राचीन राजाओं के शरीर औषधियों से अनुभावित हुए पड़े हैं। साथ ही उनके नौकर-चाकर, उनकी स्त्रियां, उनके फर्नीचर आदि सामान भी उनके देहों के साथ सुरक्षित हैं। ये पिरामिड संसार के महान् आश्चर्यों में गिने जाते हैं।

२. ईसाईयत में मुर्दे को गाड़ना— ईसाई धर्म का मूल यहूदी धर्म है। यहूदी लोग मुर्दे को गाड़ते थे। ईसामसीह भी यहूदी थे। इसलिए जब वे मरे तो उन्हें एक पहाड़ी में गाड़ा गया। ईसाई मानते थे कि तीसरे दिन वे कब्र में से निकल गये और परमात्मा के पास चले गये। इसी की स्मृति में ईसाइयों ने मुर्दों को गाड़ना जारी रक्खा। उनका विश्वास है कि जो ईसामसीह में विश्वास रखते हैं, उनके लिए कब्र एक विश्वास और आराम की जगह है, और जब तक कब्र खुलेंगी नहीं तब तक वे उनमें आराम से सोते रहेंगे। इसके बाद सृष्टि के अन्त का दिन आयेगा जब सब कब्रें खुलेंगी, सब उठ खड़े होंगे और सब देखेंगे कि परमात्मा के दायें हाथ मसीह बैठे हैं और ईसा पर विश्वास लाने वालों तथा अविश्वास वालों के भाग्य का निपटारा हो रहा है। इस समय को वे (Resurrection) का दिन कहते हैं। हजरत मसीह में विश्वास लाने वाले स्वर्ग में तथा अविश्वासी नरक में सदा के लिए भेज दिये जायेंगे। आत्मा को कर्मों का इस प्रकार का फल मिल सके - इसलिए ईसाइयों में मृत व्यक्ति के शरीर को कब्र में संभाल कर रक्खा जाता है।

३. इस्लाम में मुर्दे को गाड़ना - जिस कारण ईसाई मुर्दे को गाड़ते हैं लगभग वही कारण इस्लाम में मुर्दे को गाड़ने का है। उनका कहना है कि जब सृष्टि का अन्त - अर्थात् कयामत का दिन आयेगा तब 'सुर' नाम की एक तुरही बजेगी, सब कब्रें खुल जायेगी और जन्नत और दोजख का फैसला होगा। प्रश्न उठ सकता है कि उस समय जो जीवित होंगे, मरे नहीं होंगे इसलिए उनकी कब्रें बनी नहीं होंगी, उनका क्या होगा? इसका उत्तर वह यह देते हैं कि कयामत के दिन की तुरही बजते ही जो भी उस समय जिन्दा होंगे वे सब मर जायेंगे। प्रश्न हो सकता है कि इतने दिन कब्र में पड़े-पड़े जिस्म मट्टी हो जायेगा, फिर

मुर्दे कैसे उठ खड़े हों? डॉ. सेल ने इस प्रश्न को कुरान के अंग्रेजी अनुवाद में उठा कर लिखा है कि हजरत मुहम्मद ने इस समस्या का यह हल निकाला था कि शरीर ही मट्टी हो जायेगा, परन्तु एक हड्डी बच जायेगी जिसका नाम 'अल अज्ब' है जिसे अंग्रेजी में (Mummies) या रीढ़ की अन्तिम हड्डी कहा जाता है। इस्लाम में यह विचार यहूदी धर्म से लिया गया है। वे इस हड्डी को 'लुज' (Mummies) कहते हैं। कयामत के दिन से ४० दिन तक बारिश होगी। जिससे जैसे बारिश पड़ने से बीज से पौधे उठ खड़े होते हैं वैसे 'अल अज्ब' से सब मुर्दे उठ खड़े होंगे। यहूदी धर्म में कहा गया है कि कयामत के समय ओस पड़ेगी जिसके कारण 'लुज' रीढ की हड्डी के भीग जाने से मुर्दे उठ खड़े होंगे।

इस्लाम के अनुसार मुर्दे को किब्ला अर्थात् मक्काशरीफ की तरफ मुंह रख के दफनाया जाता है। कब्र इतनी गहरी बनाई जाती है ताकि वख्त पड़ने पर मुर्दा आसानी से उठ कर बैठ सके। कब्र में 'मुनकिर' और 'नकीर' – दो फरिश्ते मुर्दे के दायें–बायें बैठ कर उससे उसके अच्छे बुरे कर्मो की पड़ताल करेंगे जिसके अनुसार उसे जनता या दोजख में भेजा जायेगा। क्योंकि मुर्दे के साथ यह सब कुछ होना होता है, इसलिए इस्लाम में मुर्दे को जलाने के स्थान में गाड़ना जरुरी है ताकि वह बना रहे।

४. पारसी धर्म में मुर्दे को हवा में खुला छोड़ देना– पारसियों में मुर्दे को न गाड़ा जाता है, न जलाया जाता है। मुर्दा शरीर को एक बुर्ज पर खुला नंगा रख दिया जाता है। बुर्ज पर रखने का अर्थ है – जमीन पर, मट्टी पर, ईंटों पर, पत्थरों पर– कहीं भी ऐसे स्थान पर जहां अन्तरिक्ष में उड़ने वाले पक्षी उसे खाकर खत्म कर दें। बम्बई में एक बुर्ज बना हुआ है जिसे **'टॉवर ऑफ साइलेंस'** (Tower of silence) कहते हैं। मुर्दे को लाकर उस पर के तख्तों पर उसे नंगा रख दिया जाता है। ले जाने वालों को 'नासासालर' कहते हैं। वहां सैंकड़ों गिद्ध लाश को खाने के लिए मंडराया करते हैं। लाश के वहां रखते ही ये गिद्ध एक दो घण्टों में ही उसका तिया–पांचा कर देते हैं, सिर्फ हड्डियां रह जाती हैं। ये लोग न तो प्राचीन ईजिप्शियंस की तरह सुरक्षित रखतें हैं, न उसे जमीन में गाड़ते हैं। जिस प्रकार जीवित अवस्था में प्राणी शुभ कार्य करता था, उसी प्रकार मरने पर वह पक्षियों

की क्षुधा निवृत्ति के शुभ काम आ जाता है। टावर ऑफ साइलेंस पर दिनों दिन हड्डियों का ढेर बढ़ता जाता है। साल में दो बार 'नासासालर' टावर का फट्टा हटा कर उसे साफ कर देते हैं और हड्डियां नीचे कुएं में जा गिरती हैं।

पारसियों के **'टावर आफ साइलेंस'** पर मुर्दो को खुला छोड़ देने की एक घटना का उल्लेख **रडयार्ड किपलिंग** (Rudyard Kipling - 1865-1936) के, जिन्हें १९०७ में साहित्य का 'नोबल पुरस्कार' मिला था, जीवन के संस्मरणों में मिलता है। वे भारत में उत्पन्न हुए थे और बरसों यहां पत्रकारिता का कार्य करते रहे। बचपन में उनके माता-पिता का निवास-स्थान पारसियों के 'टावर आफ साइलेंस' के पास ही था। एक दिन उन्होंने देखा कि उनके पिता के बगीचे में एक बच्चे की गली सड़ी बांह कहीं से आ पड़ी। किपलिंग ने अपनी मां से इसका रहस्य जानना चाहा, परन्तु उन्होंने उसे डांट दिया। इस बीच किपलिंग की आया ने इसका रहस्य खोल दिया। मुर्दे को इस प्रकार खुला छोड़ देने से इस प्रकार की घटनाओं का हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु ऐसी घटनाओं को देख कर चित्त को क्षोभ अवश्य होता है। इस घटना का उल्लेख श्री बसन्त ए. शाहा ने १८ सितम्बर १९७६ के 'इलस्ट्रेटिड वीकली' प्रसिद्ध पत्र में किया है।

५. हिन्दुओं में मुर्दे को जला दिया जाता है—हमने देखा कि लोग मुर्दे को सुरक्षित रखते हैं या कब्र आदि में गाड़ देते हैं, वे मर जाने पर भी जीव शरीर के साथ किसी न किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना बनाये रखते हैं। हिन्दुओं में भी शव को जला दिये जाने पर भी पुराणमतावलम्बी श्राद्धादि के रूप में मृतक के शरीर के साथ तो नहीं, परन्तु आत्मा के साथ सम्बन्ध बनाये रखने का-सा व्यवहार करते हैं परन्तु शुद्ध वैदिक धर्म में शरीर के भस्मित हो जाने पर मृतक के शरीर तथा आत्मा का कोई संबन्ध नहीं रहता। **''भस्मान्तं शरीरम्''** के अनुसार शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध उसके भस्म होने के बाद समाप्त हो जाता है, सम्बन्धियों का भी शरीर के साथ तो कोई नहीं, परन्तु आत्मा के साथ भी स्मृतिमात्र का संबन्ध रह जाता है, अन्य कुछ नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाये तो यही बात युक्ति की कसौटी पर ठीक बैठती है।

इसके अतिरिक्त हिन्दू अथवा वैदिक धर्मी मुर्दे को इसलिए भी

नि:संकोच जला देते हैं क्योंकि उनके कर्मफल के लिए यहूदी, ईसाई या मुसलमानों की तरह कयामत के दिन तक इन्तजार करना जरुरी नहीं है। कर्म का फल शरीर के साथ बंधा हुआ नहीं है, आत्मा के साथ कर्म के फल का संबन्ध है। शरीर के भस्म हो जाने पर आत्मा को कर्म का फल मिलता है, इसके लिए शरीर को संभाल कर रखने या जमीन में दबाकर रखने की जरुरत नहीं है।

हिन्दुओं में कई लोग संन्यासियों का दाहसंस्कार करने की अपेक्षा उनका जल-प्रवाह करते हैं मनुस्मृति (६-४३) में संन्यासी के लिए लिखा है:—

अनग्निः अनिकेतः स्यात् ग्रामं अन्नार्थं आश्रयेत्।
उपेक्षकः असंकुसुकः मुनिभावसमाहितः॥

—अर्थात् संन्यासी 'अनग्निः' होता है- आहवनीय आदि अग्निहोत्र की अग्नियों से रहित होता है। उसके लिए कहा गया है कि वह कहीं अपना स्वाभिमान घर भी न बांधे और अन्न-वस्त्रादि के लिए ग्राम का आश्रय ले, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे।

इस श्लोक के फुटनोट में 'संस्कारविधि' में लिखा है- 'इसी (अनग्नि) पद से भ्रान्ति में पड़ कर संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते- यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहां आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श या दाहकर्म छोड़ना नहीं है।' इसलिए ऋषि दयानन्द के अनुसार संन्यासियों के मृत शरीर का भी दाह संस्कार ही होना उचित है।

६. यूरोप और अमरीका में शव-दाह—यह शरीर जिन तत्वों से बना है, वे हैं- पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु। विश्व भर के लोग मरने पर मृतक शरीर को इन्हीं तत्वों में से किसी एक की भेंट कर देते हैं। जो लोग गाड़ते हैं वे पृथिवी की, जो जल प्रवाह कर देते हैं वे जल की, जो दाहकर्म करते हैं वे अग्नि की, और जो शव को खुले में छोड़ देते हैं वे मृतक को वायु की भेंट कर देते हैं। ये चारों तत्व मृत शरीर को आत्मसात् कर सृष्टि तत्वों में अणुकृत् कर देते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि मृतदेह का कुछ नहीं बचता। कुछ परमाणुओं में विच्छिन्न हो जाते हैं, कुछ मीन, पशु-पक्षियों के पेट में चले जाते हैं जिन्हें नदी में बहा देते हैं उन्हें जल के जन्तु और जिन्हें खुला छोड़ देते

हैं उन्हें पशु-पक्षी समाप्त कर देते हैं। सोचने की बात यह है कि इन सब में वैज्ञानिक विधि कौन सी है ?

कोई समय था जब यूरोप में सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। उस समय रोमन राज्य में उच्च वर्ग के लोग मुर्दों को जलाते थे, गाड़ते नहीं थे। रोमन लोगों की देखी-देखी यूरोप में भी मुर्दो को जलाया जाता था। रोमन लोगों ने मुर्दो को जलाने की रीति ग्रीक लोगों से ली थी। ग्रीस पर किसी समय भारत की विचारधारा का प्रभाव था। **पाइथागोरस,** जो ग्रीक दार्शनिक था, भारत आया था। प्लेटो की विचारधारा में तो भारत का प्रभाव स्पष्ट दीखता ही है। भारत से ग्रीस, ग्रीस से रोम, रोम से यूरोप में मुर्दो को जलाने की रीति सर्वत्र फैली। इसके बाद जब ईसाईयत का प्रचार हुआ और सृष्टि की समाप्ति के दिन हर व्यक्ति के सशरीर उठ खड़े होने (Resurrection) के विचार ने जन्म लिया, तब मृतक को जला देने का चर्च की तरफ से विरोध हुआ। इसलिए विरोध हुआ कि यदि शव को जला दिया गया, तो जब आखिरी दिन हर व्यक्ति के पाप-पुण्य का लेखा-जोखा होकर स्वर्ग-नरक का बंटवारा होगा, तब शरीर के भस्म हो जाने पर किसे स्वर्ग मिलेगा, किसे नरक मिलेगा ? ईसाईयत के फैलने की वजह से पाश्चात्य जगत् में तो शवदाह पर रोक लग गई, परन्तु पूर्वी देशों में शवदाह बदस्तूर चलता रहा। भारत, बर्मा, जापान में मुर्दे को जलाया ही जाता रहा। पूर्वी देशों में सिर्फ चीन अपवाद रहा क्योंकि उनकी विचारधारा यह थी कि चीनी कहीं भी मरे उसे चीन की धरती में ही गड़ना है। अब वहां भी दाह की विधि चल रही है।

१८७४ तक विश्व में मृतक के शरीर को निपटाने की यह स्थिति थी। इस समय इंग्लैण्ड में महारानी विक्टोरिया का सर्जन सर हैनरी थाम्पसन था। १८७३ में वायना में एक प्रदर्शिनी हुई जिसमें मृतदाह करने की एक भट्टी दिखलाई गई थी जो इटली में कहीं-कहीं मुर्दों को जलाने के काम आती थी। सर थाम्पसन इस मृतदाह की भट्टी को देखकर बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने ब्रिटेन में श्मशानों की जो दुर्गति देखी थी, इस भट्टी को देखकर उनकी वे स्मृतियां ताजा हो गईं और वे सोचने लगे कि शवों का निपटारा करने के लिए इस प्रकार की श्मशानें क्यों न बनाई जायें जिनमें शवों को गाड़ने के स्थान में उन्हें जलाया जाये। परिणामस्वरूप उहोंने शवदाह के विचार को मूर्तरूप देने के लिए एक संस्था बनाई जिसका नाम था— 'Cremation - The treatment of

the Body after Death'। सर थाम्पसन के विचारों के साथ उस समय के वैज्ञानिकों, लेखकों, कलाविदों ने सहमति प्रकट की। इन लोगों ने मिलकर 13 जनवरी १८७४ में जिस 'क्रिमेशन सोसाइटी आफ इंग्लैण्ड' की स्थापना की उसके घोषणापत्र में कहा गया था—

"The promoters disapprove of the present system of burying the dead and wish to substitute some method which would rapidly resolve the body into it's component elemeint by a process which could not offend the living and would render the remains perfectly innocuous."

अर्थात् इस संस्था के अभिभावक मुर्दे गाड़ने की प्रचलित नीति का अनुमोदन नहीं करते और चाहते हैं कि इसकी जगह कोई ऐसी विधि अपनाई जाये जिससे शरीर शीघ्र से शीघ्र अपने घटक-तत्वों में विलीन हो जाये और रीति से न तो जीवित व्यक्ति तिरस्कृत हों और साथ ही मृत शरीर भी सर्वथा दोषरहित हो जाये।

हम पहले लिख आये हैं कि मृत को गाड़ना ईसाईयत की दृष्टि से क्यों धार्मिक कृत्य था। शरीर को जला दिया तो पुनरुत्थान (Resurrection) किसका हो? इस प्रकार इस संस्था के बन जाने पर भी चर्च के विरोध के कारण संस्था को शवदाह के लिए कोई भूमि नहीं मिली, परन्तु संस्था के संचालक इस दिशा में लगातार प्रयत्नशील रहे। अन्त में ४ साल बाद उन्हें सर्रे जगह पर वोकिंग स्थान में जगह मिली जहां इंग्लैण्ड में पहला दाह-श्मशान (Crematorium) बना। इसके बन जाने पर भी चर्च के विरोध के कारण कोई व्यक्ति शव को जलाने के लिए तैयार नहीं हुआ। १८८३ में डॉक्टर विलियम प्राइस ने अपने मृत बच्चे का दाह-कर्म करने का प्रयत्न किया जिस कारण उस पर मुकदमा चलाया गया। अन्त में अदालत ने यह फैसला दिया कि शव का दाहकर्म अवैधानिक नहीं है।

७. युरोप में शवदाह कानून— १९०२ में इंग्लैण्ड में पहले पहल 'शवदाह विधेयक' (Cremation Act) पास हुआ। इसके पास होने के बावजूद शवदाह के लिये इने-गिने व्यक्ति ही तैयार होते थे। इस दिशा में विशेष प्रगति द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में हुई। मरने वालों की संख्या इतनी अधिक थी कि दफनाने की तंगी होने लगी, क्योंकि इनके लिये भूमि पर्याप्त नहीं थी। इंग्लैण्ड में यह अनुभव किया जाने लगा कि मुर्दो को भूमि में गाड़ना भूमि का दुरुपयोग करना था। इससे दाह करने

की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने लगा। २० वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से शवगृहों में जलाये जाने वाले मृतकों की संख्या ३ लाख प्रतिवर्ष बढ़ने लगी। इसका अर्थ यह है कि इंगलैण्ड में जितने व्यक्ति मरते थे उनमें से आधे जलाये जाने लगे। इस बीच 'दाहगृहों' (Crematoria) की संख्या १९० तक पहुंच गई।

इंगलैण्ड में दाहकर्म की देखा-देखी यूरोप के अन्य देशों में भी शवदाह का अनुकरण होने लगा। स्केण्डेनेवियन देशों, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड में ३० प्रतिशत मुर्दे जलाये जाने लगे। हर देश में ऐसे कानून बनाये गये जिनमें शवदाह को वैधता दी गई। शवदाह पर एक कानूनी आपत्ति थी। मृतक को जला देने से फिर उसके संबन्ध में किये गये किसी अपराध की जांच नहीं कराई जा सकती थी, क्योंकि उसके जल जाने से किसी प्रकार की साक्ष्य नष्ट हो जाता था। अगर मृतक की हत्या की गई है या उसने आत्मघात किया है - इस सबकी जांच कब्र में पड़े शव निकाल कर तो की जा सकती थी, उसके जला दिये जाने पर नहीं। इसलिये यूरोप में शवदाह के संबन्ध में जो कानून बने उनमें ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये गए जिससे इस बात की रोकथाम हो सकती थी। मुर्दा जलाने के लिए डॉक्टरी सर्टिफिकेट लेना तथा इसी प्रकार के अन्य प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

अमरीका में शवदाह का सूत्रपात १८७६ से हुआ। अमरीका की 'शवदाह संस्था' (Cremation Society of America) के आंकड़ों के अनुसार बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अमेरिका में २३० शवदाह गृह बन चुके थे और १९७०में एक वर्ष में ८८००० (अट्ठासी हजार) मृतकों का दाह संस्कार हुआ था।

यूरोप तथा अमरीका में १९३७ से प्रत्येक देश में अपनी- अपनी 'राष्ट्रीय शवदाह संस्थायें बन गई' और वे आपस में विचार विनिमय कर सकें इस आशय से एक 'अन्तर्राष्ट्रीय शवदाह संगठन' (International Cremation Fedration) की भी स्थापना हो गई जिसका मुख्य कार्यालय लंदन में है। यह संगठन त्रिवार्षिक कॉन्फ्रेंसें करता रहता है जिसमें शवदाह को प्रोत्साहन देने के कार्यक्रमों पर विचार होता है।

हमने देखा कि जहां-जहां मुर्दे गाड़े जाते थे वहां-वहां यह चेतना जागृत होती जाती है कि गाड़ने की अपेक्षा जलाना ज्यादा युक्तिसंगत है। इस चेतना के बढ़ते जाने के निम्न कारण है—

१. मृत शरीर को जलाने से बहुत कम भूमि खर्च होती है। कब्रों से स्थान-स्थान पर बहुत-सी भूमि घिर जाती है।

२. कब्रिस्तान के कारण बहुत से रोगाणु वायुमण्डल को दूषित कर देते हैं। वायु के दूषित होने से वे फैलकर समाज में रोग फैलाने का कारण बनते हैं। मुर्दों को जला देने से ऐसा नहीं होता।

३. जो जल कब्रिस्तान के पास से होकर जाता है वह रोग का कारण बन जाता है, जलने से ऐसा नहीं होता।

४. कुछ पशु मृत शरीर को उखाड़कर खा जाते हैं और रोगी अथवा सड़े शरीर को खाने से वे रोगी बन कर मनुष्यों में भी रोग फैलाते हैं। जलाने से यह बुराई नहीं होती।

५. कुछ कफन चोर कब्र खोदकर शरीर का कफन उतार लेते हैं। इस प्रकार मृतक के सम्बन्धियों के मनोभावों को ठेस पहुंचती है। मृतक को जला देने से ऐसा नहीं हो सकता।

६. लाखों बीघा जमीन संसार में कब्रिस्तानों के कारण रुकी पड़ी है। जलाना शुरू करने से वह खेती तथा मकान बनाने के काम आयेगी। जिन्दों के लिये ही जमीन थोड़ी पड़ रही है, उसे मुर्दों ने घेर रक्खा है।

७. दरगाहों की समाधि पूजा, कब्रों की पूजा, पीरों की पूजा, मुर्दों की पूजा-अनेक प्रकार के पाखण्ड मुर्दों को जला देने से खत्म हो जायेंगे।

८. बहुत से पुजारी जिनका पेशा यही है कि कब्रों, दरगाहों का चढ़ावा खायें वे लाभदायक काम पर लग कर समाज के लिये उपयोगी व्यक्ति बनेंगे।

९. इन मजारों की पूजा करने, चढ़ावा चढ़ाने और आने-जाने में जो करोड़ों रुपया व्यर्थ का व्यय होता है वह बच जायेगा।

१०. सैकड़ों दरगाहें और मकबरे ऐसे हैं जो हजारों नहीं लाखों रुपयों की लागत से बने हैं। इस प्रकार जो करोड़ों रुपया अनावश्यक खर्च होता है। वह बचकर शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा आदि उपयोगी कार्यों पर व्यय हो सकेगा।

११. अनेक पतित लोग मुर्दों को उखाड़कर उनके साथ कुकर्म करते पकड़े गये हैं—इन मुर्दों की ऐसी दुर्गति नहीं होगी। कुछ ताकियों और हिन्दू समाधियों पर चरस, गांजा, अफीम और शराब पी जाती हैं—ये दुराचार और भ्रष्टाचार भी नहीं होंगे।

इसलिये स्वास्थ्य रक्षा के विचार से, भूमि की कमी के विचार से, रुपये की बचत के विचार से और सदाचार के विचार से भी मुर्दों को गाड़ने की अपेक्षा जलाना ही उचित है।

इस विषय पर विचार करते हुए ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है-''गाड़ना सबसे बुरा है। उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना है क्योंकि उसको जलजन्तु उसी समय चीर-फाड़ के खा जाते हैं। परन्तु जो कुछ हाड़ वा मल जल में रहेगा, बहकर जगत् को दुःखदायक होगा। उससे कुछ एक थोड़ा बुरा जंगल में छोड़ना है। क्योंकि उसको मांसाहारी पशु-पक्षी लूंच खायेंगे। तथापि जो उसके हाड़ की मज्जा और मल सड़कर जितना दुर्गन्ध करेगा, उतना जगत् का अनुपकार होगा, और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है। क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जायेंगे। एक विश्वा भर भूमि में अथवा एक वेदी में लाखों करोड़ों मृतक जल सकते हैं और कब्र के देखने से भय भी होता है। इससे गाड़ना आदि सर्वथा निषिद्ध है।''[१]

संस्कृत में मृत्यु के लिये '**पञ्चत्वं गतः**' का प्रयोग किया जाता है। शरीर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश —इन पांच भूतों का संघात है। मरने के बाद शरीर के इन पांच भूतों को सूक्ष्म करके जल्दी से जल्दी अपने-अपने मूल रूप में पहुंचा देना श्रेयस्कर है। यही वैदिक पद्धति का प्रयोजन है। पृथिवी का अर्थ दृश्यमान भूमि या मिट्टी नहीं है। इसी प्रकार जल का अर्थ बहता हुआ पानी नहीं है। ये तो इनके स्थूल रूप हैं। इनका सूक्ष्मरूप अदृश्य है। मृत शरीर को जल्दी से जल्दी अदृश्य मूलभूत तत्त्वों के रूप में परिणत करने का एकमात्र साधन भेदन में समर्थ अग्नि है। अन्य सब साधन समय लेते हैं, अग्नि ही ऐसा साधन है जो इस काम को चटपट कर देता है। कब्र में गाड़ने पर मुर्दे को मिटटी बनने में महीनों लगते है। जल में प्रवाह कर देने पर मृतक देह मछलियों के पेट में जाकर सड़ता और अपने मूलरूप में जाने में पर्याप्त समय लेता है। खुला छोड़ देने पर भी यही दशा होती है। हड्डियां फिर भी बची रह जाती हैं। अग्नि द्वारा दाह कर्म ही ऐसा साधन है जिससे घण्टे भर में मृत देह के सब तत्व अपने मूल रूप में पहुंच जाते हैं। श्री अत्रिदेव ने ठीक ही लिखा है कि जब मृत्यु-दण्ड के लिये हम नये-नये उपाय ढूंढ़ते हैं जिससे मरने वाले को कम से कम कष्ट हो और प्राण जल्दी से

१. सत्यार्थ प्रकाश - समुल्लास १३, पृष्ठ ७६६-६७ (रालाकट्)

जल्दी निकल जायें ताकि फिर मृतदेह को भी जल्दी से जल्दी नष्ट करने के लिये इससे समर्थ दाहकर्मविधि को क्यों न अपनाया जाये। जिस प्रकार बिजली द्वारा फांसी दिये जाने पर बिजली की धारा सैकंड भर में मनुष्य के प्राणपखेरू लेकर उसे मुक्त कर देती है, उसी प्रकार अग्नि इस शरीर के स्थूल पंचभूतों को अपने सूक्ष्म रूप में परिणत कर यह शरीर जहां से आया था वहीं भेज देती है।

यह ठीक है कि मृतदेह को जलाने से किंचित् दुर्गन्ध थोड़े समय के लिये होती है। किन्तु विधिपूर्वक दाहकर्म किये जाने पर उसका भी निराकरण हो सकता है। जब शरीर के बराबर घृत सामग्री और चन्दन आदि का अग्नि में होम किया जायेगा तो शरीर के जलने से उत्पन्न दुर्गन्ध का अपने आप निराकरण हो जायेगा। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि 'जो दरिद्र हो तो बीस सेर से कम घी चिता में न डाले। चाहे वह भीख मांगने वा जाति वालों के देने अथवा राज से मिलने से प्राप्त हो और जो घृतादि किसी प्रकार न मिल सके तथापि गाड़ने आदि से केवल लकड़ी से भी मृतक का जलाना उत्तम हैं।'[१]

सूरीनाम में राजकीय नियम से मृतदेह को गाड़ा जाता है। वहां के एक आर्यसमाजी कार्यकर्ता श्री उदयराजसिंह वर्मा का निधन हो गया। सूरीनाम के प्रधानमन्त्री दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि तथा सन्तप्त परिवार से संवेदना व्यक्त करने उनके घर गये। औपचारिकतावश उन्होंने मृतक की पत्नी से कोई सेवा बताने के लिये कहा। पत्नी ने कहा कि ''मैं अपने पति की मृत देह को गाड़ना नहीं, जलाना चाहती हुँ। मुझे इसकी अनुमति दी जाये।'' प्रधानमन्त्री ने कहा कि ''मैं राजकीय नियम के विरुद्ध अनुमति देने में असमर्थ हूँ। हाँ, सरकारी खर्चे पर आपके पति की लाश को पड़ौसी देश गयाना में जहां जलाये जाने का नियम है, भिजवा दूंगा।'' पत्नी बोली–''आप अपने नियमों में संशोधन कर लीजिये। तब तक मेरे पति की लाश ऐसे ही रक्खी रहेगी।'' **उस देवी की अपने सिद्धान्त पर दृढ़ता का यह परिणाम हुआ कि बड़ी शीघ्रता से कार्यवाही होकर सूरीनाम में मुर्दों को जलाये जाने संम्बन्धी नियम बन गया। तभी उस देवी ने अपने पति की देह का दाहकर्म किया।**[२]

---

१. सत्यार्थ प्रकाश – समु. १३ पृष्ठ ७६७

२. जनज्ञान मासिक, २ मई १९७६

शरीर के भस्म हो जाने पर वही बचा रहता है जो अनुच्छित्तिधर्मा है, अमर है। यह शरीर और प्राणवायु केवल इस जीवन के साथी हैं। शरीर के पार्थिव तत्वों के विलीन होने और प्राणों के भी यहीं रह जाने के बाद जन्म-जन्मान्तर के साथी तो कृतकर्म हैं। उन्हीं के संस्कार साथ जाते हैं। इसलिए वेद ने इन संस्कारों को जन्म देने वाले कर्मो को स्मरण करने का निर्देश किया है। कर्मो के साथ-साथ प्रभु को स्मरण करने की भी शिक्षा दी है। प्रभु का स्मरण नश्वर शरीर के लिये किये जाने वाले कर्मो से बचने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है।

अन्त समय में प्रभु का स्मरण और कृतकर्मो का चिन्तन बड़ा उपयोगी है। 'कुछ का ऐसा मानना है कि मनुष्य जिस प्रकार के विचारों को अपने मन में अन्त समय में लाता है, दूसरे जन्म में उन्हीं संस्कारों के साथ उत्पन्न होता है।'[१]—मृत्यु के समय जिस प्रकार का चित्त होता है उसी प्रकार का चित्त प्राण के पास पहुंचता है। प्राण अपने तेज के साथ आत्मा के पास पहुंचता है। प्राण ही तेज, चित्त और आत्मा को अपने संकल्पों के अनुसार लोकों में ले जाता है। प्राण की दो शक्तियां है—शारीरिक तथा मानसिक। प्राण की शारीरिक शक्ति उसका तेज है। उसी के तेज से शरीर क्रिया करता है। प्राण की मानसिक शक्ति उसका चित्त है। इस चित्त के द्वारा ही संकल्प-विकल्प होता है। शरीर से कूच करते समय प्राण अपने तेज और चित्त को साथ लेकर चलता है। परन्तु इस शरीर में रहते हुए इसका जैसा तेज और चित्त हो चुका होता है वैसे ही लोक में जा सकता है। चलते समय आत्मा भी कूच करता है, क्योंकि आत्मा और प्राण साथ-साथ रहते हैं। इस प्रकार शरीर से कूच करते समय प्राण अपने शारीरिक (तेज), मानसिक (चित्त) तथा आत्मिक (आत्मा)—इन तीनों आधारों को साथ लेकर चलता है। जिस मार्ग से आत्मा शरीर से निकलता है उसे उपनिषत्कार ने उदान मार्ग कहा है। यह वह मार्ग है जो हृदय की उस नाड़ी से चलता है जो मस्तिष्क में जाकर खुलती है और जिसे 'कैरोटिड आर्टरी' कहते हैं। मृत्यु तभी होती है जब मनुष्य का मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है।[२]

---

१. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। गीता ८-६
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।। गीता ८-१३

२. यच्चित्तस्तेनैष प्रणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति॥ प्रश्न. ३-१०

गीता व उपनिषद् की यही बात लोक में 'अन्त मता सो गता' इन शब्दों में कही गई है। परन्तु मृत्यु के समय जब प्राण कण्ठ में अटक रहे हों तब ऐसी बातें कहने का क्या लाभ? उस समय वह कुछ करने-धरने की स्थिति में नहीं होता। उस समय मनुष्य के भीतर वही विचार उभरते हैं जिनका वह अतीत में अभ्यस्त होता है। जीवन भर मन, वचन और कर्म से पापकर्मों में लिप्त रहने वाले व्यक्ति के लिये अन्त समय में मन में अच्छी भावनायें लाना असंभव जैसा है। मृत्यु के सन्निकट होने पर मनुष्य अवचेतन या अचेतन अवस्था में होता है। उस समय इसके वही संस्कार उद्बुद्ध होते हैं जिनमें वह जीवन भर घूमता रहा होता है। पुण्यात्मा व्यक्ति के मुख से ही अन्तकाल में अनायास प्रभु का नाम या स्वामी दयानन्द की तरह **'ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो'** जैसे शब्द निकलते हैं। इसलिए इस श्रुति का अभिप्राय यही है कि मनुष्य जीवनभर इन बातों पर ध्यान दे। प्रतिदिन किया गया प्रभु का स्मरण मनुष्य की शक्ति को क्षीण नहीं होने देता। सायं-प्रातः स्मरण करते रहने से उसकी ताजगी बनी रहती है। स्वभावतः सतत क्रियाशील होने से जीव कर्म किये बिना तो रहेगा नहीं। परन्तु फलभोगोपरान्त, कृतप्रयोजनकत्वात्, भौतिक शरीर की नश्वरता को ध्यान में रख प्रभु से शक्ति पाकर कर्तव्य कर्मों में प्रवृत्त रहेगा तो उसके कर्म उसे अमर बना देंगे। मृत्यु का स्मरणमात्र उसे दुष्कर्मों में प्रवृत्त होने से बचाता रहेगा।

पुनर्जन्म- जिन लोगों को वैज्ञानिक जगत् में अद्यतन सिद्धान्तों की जानकारी नहीं है वे अभी तक यही समझते हैं कि पंचभूतों के संघात का नाम ही जीवात्मा है और इसलिये शरीर के नष्ट होते ही जीवात्मा का भी नाश हो जाता है।[१] जब जड़ तत्व विभिन्न देहादि के रूप में परिणत होते हैं तो उनमें एक विशेष शक्ति का उद्भव हो जाता है। उसी को चेतना कहते हैं। तन्तुओं में शीतादि के निवारण की शक्ति नहीं होती परन्तु कपड़ा बन जाने पर उसमें शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। ऐसा ही देहादि जड़ तत्वों में चेतना न होने पर भी देहरचना के साथ वहां चेतनाशक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

---

१. The soul is only the sum total of the activities of the body and that the former ceaces to exist when death overtakes the latter.

१. जिन्दगी क्या है, अनासिर की मुनासिब तरतीब।
मौत क्या है, इन्हीं अजजा का परीशां होना॥

इस शंका का समाधान करते हुए वेदान्त दर्शन में कहा है कि आत्मा का देह से व्यतिरेक-भेद मानना आवश्यक है क्योंकि देह के रहते हुए भी उसमें चेतनता आदि गुण नहीं पाये जाते।[१] मृत देह में विभिन्न जड़ तत्वों के ज्यों के त्यों विद्यमान रहने पर भी इन्द्रियों से न ज्ञान की उपलब्धि होती है और न कर्म की। इसलिए चेतन तत्व शरीर से सर्वथा अतिरिक्त है। उसी तत्व का नाम आत्मा है जो शरीर के मरने-नष्ट होने पर भी नहीं मरता।[२]

यदि पंचभूतों के संघात का नाम ही आत्मा होता तो शरीर के नष्ट होते ही जीने मरने का झंझट समाप्त हो जाता, क्योंकि चार्वाक के अनुसार '**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?** परन्तु न इस देह के बनने पर हम जन्म लेते और न इसके नष्ट होने पर मरते हैं। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार हमारे निरन्तर जन्म लेते रहने का नाम जीवन है और प्रत्येक जन्म के साथ अनिवार्यरूप से मृत्यु जुड़ी है।[३]

यहां से जाकर फिर होना पुनर्जन्म कहाता है।[४] जिस शरीर को जीवात्मा एक बार छोड़ देता है उसे दुबारा प्राप्त नहीं कर सकता। एक देह को छोड़कर देहान्तर-प्राप्ति ही पुनरुत्पत्ति है। मोक्ष-प्राप्ति होने पर नियत समय के अन्तराल को छोड़कर एक देह का परित्याग कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। जन्म-मरण के इस सिलसिले का न कोई आदि है, न अन्त। आत्मा को नित्य मानने पर शरीरों को छोड़ने और ग्रहण करने का अनुक्रम अनिवार्य हो जाता है। यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता। फिर उसकी उत्पत्ति कहां से होती? क्योंकि स्वरूप से उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली वस्तु फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकती। याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया- 'जब वृक्ष को काट गिराते हैं तो वह अपने मूल से फिर उठ खड़ा होता है। परन्तु जब मृत्यु पुरुष को काट गिराती है तो वह किस मूल से फिर उठ खड़ा होता है?'[५] जब किसी से उत्तर न बन पड़ा तो स्वयं

---

१. व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्नतूपलब्धिवत्। वे.द. ३-३-५४ ४० न हन्यते हन्यमाने शरीरे। गीता २-२०

२. all life is a constant birth or becoming and all birth entails constant death.- An idealist view of life.

३. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं, जन्म मृतस्य च। गीता २-२७

४. प्रेत्यभावः पुनरुत्पत्तिः। न्याय. १-१-१९

५. मर्त्यः स्विन् वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति। बृहद्. ३-९-२८

याज्ञवल्क्य ने कहा– 'वह मूल आत्मा है जो स्वरूप से कभी उत्पन्न नहीं होता और सदा बना रहता है।'[२] मनुष्य अन्न की भांति पैदा होता, बढ़ता, नष्ट होता और पुनः उत्पन्न होता है।[३] प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक विक्टर ह्यूगो ने कहा है– 'मुझे अपने भीतर से पुनर्जन्म का आभास होता है। मुझे लगता है जैसे मैं एक जंगल हूँ जो एक बार कट चुका है। उसमें फूटी नई शाखायें पहले की अपेक्षा कहीं मजबूत और सुन्दर हैं'।[४]

जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाह से नित्य हैं। कर्ता और कर्म का नित्य संबन्ध है। प्राणी कर्म से बंधा हुआ है[५] और कर्म को बिना भोगे क्षय नहीं होता।[६] पूर्वापर जन्म न मनाने से 'कृतहानि' तथा '**अकृताभ्यागम**' दोष आता और परमेश्वर '**नैर्घृण्य**' तथा '**वैषम्य**' का दोषी बनता है। जो लोग परजन्म नहीं मानते उनके गले 'कृतहानि' का दोष पड़ता है क्योंकि परजन्म न होने से मृत्यु से पूर्व किये गये कर्म बिना फल दिये रह जायेंगे, जबकि प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मों का फल अनिवार्यरूप से भोगना पड़ता है इसलिए 'कृतहानि' दोष से बचने के लिए परजन्म का मानना आवश्यक है। कर्म किये बिना सुख–दुःखरूप फल का पाना 'अकृताभ्यागम' दोष कहलाता है। पूर्वजन्म न मानने से यह दोष उत्पन्न होता है। एक आत्मा अत्यन्त सुखसम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता और दूसरा दरिद्र की सन्तान बन कर दर–दर की ठोकरें खाता है। ऐसा क्यों? पूर्वजन्म है नहीं जिसमें उन्होंने पाप–पुण्य किये हों। तो फिर, बैठे बिठाये–बिना कर्म किये एक को पुरस्कार और दूसरे को दण्ड क्यों? बिना कारण के कार्य हो नहीं सकता। इसलिये इस दोष के निवारणार्थ पूर्वजन्म का मानना आवश्यक है। इस प्रकार पूर्वजन्म के कर्मो का फल भोगने के लिए वर्तमान जन्म मानने से अकृताभ्यागम दोष की निवृत्ति हो जाती है और परजन्म के मानने से वहां इस जन्म के कर्मों का फल भोगे जाने से कृतहानि दोष नहीं रहता। ऐसे ही कर्मानुसार सुख–दुःख की व्यवस्था होने से ईश्वर न्यायकारी सिद्ध होकर उसमें नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष नहीं रहते।

---

२. जात एव, न जायते। बृहद् ३–९–२८

३. सत्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः। कठ. १–६

४. I feed in myself the future life. I am like a forest once cut down; the new shoots are stronger and lovelier than ever.

५. कर्मणा बध्यते जन्तुः। म.भा. शान्तिपर्व २४०–७

६. नाभुक्त क्षीयते कर्म। म.भा

यदि इसी जन्म को पहला और अन्तिम जन्म माना जाये तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यदि हमें यह विश्वास हो जाये कि इस देह के साथ ही एक दिन हमारा भी अन्त हो जायेगा तो हमें इस जीवन के साथ क्या लगाव रहेगा? परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। फिर तो सच्चाई, ईमानदारी, न्याय, प्रेम, त्याग आदि की उपेक्षा करके **'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्'** के अनुसार ही जीवन बिताना ठीक समझा जायेगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म में न जाने कितनी भूलें होंगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधार कर अपने को पहले से अच्छा बनाने का अवसर ही नहीं रहता। एक कक्षा में रहते हुए एक वर्ष में जो पढ़ लिया सो पढ़ लिया। परीक्षा में असफल होने पर दुबारा पढ़ने का अवसर नहीं और सफल होने पर और आगे पढ़ने का अवसर नहीं। मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म में उसे पाना नितान्त असम्भव हैं। इसलिए गीता में कहा है कि जन्मजन्मान्तर की साधना के बाद कहीं मोक्ष की प्राप्ति होती है।[१] अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगसिद्धि के लिये प्रयत्नशील कोई व्यक्ति यदि सिद्धि पाने से पहले ही काल का ग्रास बन जाये तो क्या होगा? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि उसका इस जन्म का पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं जायेगा।[२] आत्मा के अमर होने से उसके इस जन्म के संस्कार ज्यों के त्यों बने रहेंगे और इस जन्म में जहां उसका अभ्यास छूटा है वहां से आगे प्रारम्भ करने के लिए उसे फिर अवसर मिलेगा। एक बार की असफलता से निराश नहीं होना चाहिये।[३] ईश्वरीय व्यवस्था में पूर्ण सफलता– मोक्ष की प्राप्ति होने तक बार–बार अवसर मिलता है। इसी से जीवन में उत्साह और शुभकर्मों में प्रवृत्ति को बल मिलता है। मनुष्य हँसते–हँसते मृत्यु का आलिंगन करेगा, जब उसे विश्वास होगा कि पुराने कपड़े इसलिए उतारे जा रहे हैं कि नये पहनाये जा सकें या एक स्तन से उसे (बालक को) इसलिये हटाया जा रहा है कि दूसरे स्तन से लगाया जा सके।

प्रत्येक जीव का सामर्थ्य दूसरों से भिन्न है। एक ही मां–बाप के दो पुत्रों को अध्ययन के लिये एक ही गुरु के पास भेजा जाता है। दोनों

१. अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। गीता ६–४५

२. पार्थ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥ ६–४०

३. नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः। मनुस्मृति ४–१३७

में एक ही रक्त है। खान-पान तथा रहन-सहन की व्यवस्था में भी पूर्ण समानता है। इतने पर भी देखा जाता है कि एक इतना मूढ है कि बार-बार समझाने पर भी उसकी समझ में कुछ नहीं आता, जबकि दूसरे की धारणाशक्ति इतनी अच्छी है कि वह संकेतमात्र से सब समझ जाता है। उसे पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे उसे कोई नई बात नहीं बताई-सिखाई जा रही है, अपितु वह पहले पढ़े हुए की आवृत्तिमात्र कर रहा है। जिन घटनाओं को देख कर भी लोग अनदेखा कर देते हैं उनसे प्रेरणा पाकर **न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द, जेम्सवाट** और **रामानुज** जैसी आत्मायें संसार को चमत्कृत कर देती हैं। **महाराजा भोज** के दरबार में चार ऐसे पण्डितों के होने का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक को एक बार, दूसरे को दो बार, तीसरे को तीन बार और चौथे को चार बार सुनने से श्लोक याद हो जाते थे। **जान स्टूअर्ट मिल** ने ६ वर्ष की आयु में रोम का इतिहास लिखना शुरू किया था। **गेटे** ने ७ वर्ष की आयु में अपना पहला प्रहसन लिखा था। **मेकाले** ने ७ वर्ष की आयु में कविता करना शुरू कर दिया था। ७-८ वर्ष की आयु में काव्य रचना करने वाले **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** और **वर्ड्सवर्थ** को कविता करना किसने सिखा दिया? **वर्ड्सवर्थ** के विषय में कहा जाता है कि जब उसके पिता ने कविता करने के कारण उसे पीटा और 'भविष्य में कविता न करने का वायदा करने को विवश किया तो वर्ड्सवर्थ के मुख से क्षमायाचना के शब्द भी कविता बन कर ही निकले।★ एक ओर जहाँ संसार में ऐसी विलक्षण प्रतिभायें देखने में आती हैं वहां दूसरी ओर निपट मूर्खों की भी कमी नहीं है। इस बुद्धिभेद का कारण इस जन्म में कुछ भी नहीं है। ईश्वर को निमित्त कारण माना जाये तो वह पक्षपाती ठहरता है। परिस्थितियों को ही मनुष्य के विकास में कारण मानने वाले बालक-बालक और मनुष्य-मनुष्य के बीच पाये जाने वाले इस अन्तर की व्याख्या नहीं कर सकते। मात्र ३२ वर्ष की आयु पाने वाले **शंकराचार्य** की महान् उपलब्धियां उनके उसी जन्म के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं मानी जा सकती। पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह सब व्यवस्था है, ऐसा माने बिना इसकी व्याख्या संभव नहीं। प्रारम्भ में ही किसी विशिष्ट विषय में रुचि अथवा प्रवृत्ति में भी पूर्वजन्म का

★ Papa papa mercy take,
Verses I shell never make

अभ्यास ही कारण है। **स्वामी रामतीर्थ** ने एक जापानी का उल्लेख किया है जो ७० वर्ष की आयु में रूसी भाषा सीखने का यत्न कर रहा था। आयु के अन्तिम दिनों में किये जा रहे इस प्रयास के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसने कहा- यदि मैं इस जन्म में रूसी भाषा पूरी तरह न सीख सका तो भी मेरी आत्मा पर उसके संस्कार बने रह जायेंगे। परिणामतः अगले जन्म में बचपन से ही रूसी भाषा में मेरी प्रवृत्ति होगी और मैं उसे जल्दी सीख जाऊंगा। एक जन्म की अभ्यस्त बुद्धि ही अगले जन्म में प्रतिभा (intuition or genius) बन जाती है।

जीव को शरीर की चेष्टा होने से पूर्व प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर उसका संस्कार होता है। तदनन्तर स्मृति होती है। स्मृति होने से किसी कार्य में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। माता के उदर से बाहर आते ही बालक श्वास लेने और रोने लगता है? माता के स्तन से दूध पीने लगता है। पूर्व संस्कारों के बिना यह प्रवृत्ति कहां से आ गई? उसे कब कौन बता गया कि कैसे मुंह चला कर दूध पीया जाता है। उसे दूध पीते देख कर यही आभास होता है कि वह सारी प्रक्रिया से पहले से परिचित है। पेट भरने पर स्तन को स्वयं छोड़कर अलग हो जाता है। यह निवृत्ति भाव भी कहां से आया? एक दिन के बालक को, जिसने अभी अच्छी तरह आंखें भी नहीं खोलीं, माता-पिता किसी भी प्रकार की शिक्षा देने में असमर्थ हैं। स्पष्ट है कि बालक के भीतर स्थित आत्मा को पहले से ही कुछ स्मृति है। उसी के सहारे वह अपना काम चला रहा है। इस जन्म में जिसने अभी आहार का अभ्यास नहीं किया उस जातमात्र बालक का भूख से पीड़ित होने पर आहार के अभ्यास और स्मरण के बिना स्तन्यपान की अभिलाषा को हाथ-पैर मार कर और रो-रोकर प्रकट करना सम्भव नहीं हो सकता। पूर्वदेह में रहते हुए आत्मा के तद्विषयक अभ्यास और उसकी स्मृति ही बालक की इस प्रवृत्ति में कारण है।

सद्योजात बालक के द्वारा हर्ष, शोक, भय आदि की अभिव्यक्ति भी पुनर्जन्म को सिद्ध करती है। बालक के जन्म लेने के अनन्तर उसके व्यवहार में पहले कुछ सप्ताहों में कुछ ऐसी विचित्रता दिखाई देती है जो उसके बड़े हो जाने पर नहीं रहती। सोते-सोते बालक कभी मुस्कराने लगता है, कभी दुःखी-सा होकर मुंह बनाने लगता है और कभी भयाक्रान्त होकर कांप उठता या चीख पड़ता है। स्वप्नावस्था में किसी स्मृति के कारण ऐसा होता है। बिना किसी वस्तु को देखे या अनुभव

किए उसकी स्मृति नहीं हो सकती। स्वप्नावस्था में वही देखा, सुना या अनुभव किया जाता है। इस जन्म में अभी तक बालक ने सुख, दुःख या भय के कारणों को अनुभव नहीं किया। बाह्य जगत् में अभी उसका इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आरम्भ नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के सिवाय सद्योजात बालक की हर्ष, शोक अथवा भय की अभिव्यक्ति का और कोई कारण नहीं हो सकता।

जैसे जहाज की यात्रा की लम्बाई का अनुमान उस पर लदी सामग्री से होता है, वैसे ही मनुष्य की यात्रा की लम्बाई का अनुमान उसमें अन्तर्हित शक्तियों से लगाया जा सकता है। यदि इसी जीवन के साथ मनुष्य का अन्त होना होता तो उसे इतने अधिक बौद्धिक सामर्थ्य, नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक आदर्शों से सम्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी? जो कुछ मनुष्य के भीतर भरा है, वह इस बात का साक्षी है कि उसकी यात्रा का अन्त वर्तमान जीवन की बन्दरगाह पर होने वाला नहीं है। **विक्टर ह्युगो** का कथन है—'तुम कहते हो कि शारीरिक शक्तियों से अतिरिक्त आत्मा की कोई सत्ता नहीं। यदि ऐसा है तो क्या कारण है कि जैसे-जैसे मेरी शारीरिक शक्तियों का ह्रास होता जाता है वैसे-वैसे मेरी आत्मा की दीप्ति बढ़ती जाती है। मेरे सिर पर शिशिर मंडरा रही है, किन्तु मेरे हृदय के भीतर वसन्त का साम्राज्य है। पिछले पचास वर्षों से मैं अपने विचारों को इतिहास, दर्शन, संगीत, नाटक आदि के माध्यम से गद्य और पद्य में लिखता आ रहा हूं। फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने हृद्गत विचारों का सहस्त्रांश भी व्यक्त नहीं कर पाया हूं। कब्र में जाते समय मैं यह तो कह सकता हूं कि मैंने अपना आज का काम पूरा कर लिया किन्तु यह नहीं कि मेरा जीवन पूरा हो गया। अगले दिन प्रातः फिर से अपने काम पर लग जाऊंगा। कब्र अन्धी गली नहीं है, आम रास्ता है जो शाम के झुटपुटे में बन्द हो जाता है और अगले दिन प्रातः फिर चालू हो जाता है।'[१]—ऐसी ही बात **जेम्स मार्टिन्यू** (James Martineu) ने अपने ८०वें जन्म दिवस के

१. You say the soul is nothing but the resultant of bodily power. Why then, is my soul more luminous when my bodily powers beginto fail. Winter in on my haed, but the eternal spring is in my heart. For half a century I have been writing my thoughts in prose and in verse, history, philosophy, song, drama, etc. But I feel I have not said the thousandth part of what is in me. When I go down to-to the grave, I can say, "I have finished my day's work." But I cannot

अवसर पर कही थी- 'मैं अपनी योजनाओं का कितना थोड़ा भाग कार्यान्वित कर सका हूं। कोई बात इतनी स्पष्ट नहीं जितनी यह कि लम्बे से लम्बा वर्तमान जीवन भी अंशमात्र है।'[२] मार्टिन्यू ने एक और महत्त्वपूर्ण बात कही; और वह यह कि 'हम आत्मा की अमरता में इसलिए विश्वास नहीं करते क्योंकि हम उसे सिद्ध कर चुके हैं, हम तो उसे सिद्ध करने का प्रयास करते हैं क्योंकि हम उसमें विश्वास करते हैं।'[३] हम आत्मा की अमरता में इसलिए भी विश्वास करते हैं क्योंकि विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है। आत्मा का अमर न होना आज तक सिद्ध नहीं हुआ। इस सन्दर्भ में जान **स्टुअर्ट मिल** का कहना है कि 'यदि पुनर्जन्म की आशा से किसी को सन्तोष मिलता है अथवा इससे उसे कुछ लाभ पहुंचता है तो उसके ऐसा करने में कोई बाधा नहीं है।'[४]

दुर्जनतोषन्याय से यदि हम विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें तो वह भी पुनर्जन्म की सिद्धि में सहायक है। जब हम वनस्पति और पशु-पक्षियों में पीढ़ी दर पीढ़ी होने वाले परिवर्तन और विकास को देखते हैं तो हमें निश्चय हो जाता है कि जीवन समाप्त नहीं होता। उसमें नैरन्तर्य बना रहता है। परिवर्तन का अर्थ ही यह है कि जो वस्तु जिस अवस्था में हो उससे दूसरी अवस्था में हो जाये। विकसित या परिवर्तित वस्तु बिल्कुल नई नहीं होती, उसमें पुराना अस्तित्व बना रहता है। यह बात न हो तो परिवर्तन या विकास का कुछ अर्थ ही नहीं रहता। यदि हर शरीर में नई आत्मा हो जो शरीर के साथ उत्पन्न होती हो और उसी के साथ नष्ट हो जाती हो तो विकास किस का? विकसित होने वाली वस्तु के मूलरूप का विकास से पहले और पीछे किसी न किसी रूप में विद्यमान होना अनिवार्य है। **चार्ल्स डार्विन** के मतानुसार यह कैसे

say, "I have finished my life." My days work begin again the next morning. The tomb is not blind alley; it is a thoroughfare. It closes on the twilight and opens on the dawn.

–Great Thoughts, Jan. 1933

२. How small a Part of my plans have I been able to carry out. Nothing is on plain as that life at its fullest on earth is but a fragment.

३. We do not believe immortality because we have proved it; but we try to prove it because we believe it.

४. To anyone who feels it conducive either to his satisfaction or usefulness to hope for a future life, there is no hindrance to his indulging in that hope.

संभव है कि विकास की धीरे-धीरे होने वाली दीर्घकालीन प्रक्रिया के बाद मनुष्य तथा अन्य चेतन प्राणी पूरी तरह लुप्त हो जायें।[१]

सृष्टि में जितना भी सौन्दर्य और चमत्कार है वह सब मनुष्य के लिये है। वस्तुतः यह सब मनुष्य की ही कल्पना है जो 'पत्थरों में प्रवचन, बहते हुए नालों में पुस्तकें और प्रत्येक वस्तु में अच्छाई'[२] के दर्शन कर लेता है। यह कैसे हो सकता है कि सृष्टि में सौन्दर्य तो बना रहे किन्तु उस सौन्दर्य की कल्पना करने वाली सत्ता न रहे। यह तर्कसंगत नहीं है। जिसने सृष्टि की रचना की है, निश्चय ही, वह सृष्टि से कहीं अधिक महान् होगा। इसी प्रकार जो आत्मा 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की कल्पना करती है वह उतनी ही नित्य एवं अविनाशी होनी चाहिये जितनी उसकी कल्पना।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर **ओलिवर लाज** के मतानुसार 'जो है वह था भी और रहेगा भी अर्थात् जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता। इसलिये स्थिरता ही सत् की कसौटी है। यदि भौतिक जगत् में सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त बौद्धिक तथा आध्यात्मिकता के क्षेत्र में क्यों नहीं लागू होगा, क्योंकि सृष्टि एक है। विज्ञान ने जो कुछ ऊर्जा स्थिरता के विषय में खोज निकाली है, वह धर्म द्वारा आत्मा की अमरता विषयक खोज का भौतिक पर्याय है।'[३]

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना युक्तियुक्त है कि संसार का कोई भी मनीषी-दार्शनिक, सन्त, कवि, वैज्ञानिक -इसे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। **इमर्सन** के अनुसार परिपक्व बुद्धि वाले मनुष्य को पुनर्जन्म का सिद्धान्त बरबस स्वीकार करना पड़ता है।[४] बीसवीं सदी में 'ईश्वर

१. It is an introlerable thought that man and all other sentient being are doomed to complete annihilation after such long continued process.

२. Sermons in stones, books in running brooks and good everything.

३. Whatever is both was and will be. persistence or conservation is the test or criterion of real existence. if it is imposible to think of physical energy as appearing and disappearing or coming into and going out of existence, why is it not equally impossible to thing of intellectual or spiritual energy. For, the universe is one. what science has discovered about the conservation of energy is the only physical equivelent of what religion has discovered about the immortality of the soul.

४. Here is the wonderful thoughts. Whatever man ripens, this sudacious belief presently appears. As soon as thought is exercised, this belief is **inevitable.**

मर गया' का नारा देने वाले निरीश्वरवादी जर्मन दार्शनिक **नित्शे** को भी पुनर्जन्म को स्वीकार करना पड़ा। उसने लिखा– 'कर्मशक्ति के जो रुपान्तर हमेशा हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं और काल अनन्त है। इसलिए कहना पड़ता है कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर भी यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते हैं। इसी से कर्मचक्र केवल आधिभौतिक दृष्टि से सिद्ध हो जाता है। वह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है।'[३] बौद्ध लोग यद्यपि आत्मा को नित्य नहीं मानते तथापि वैदिक धर्म में स्वीकृत पुनर्जन्म के सिद्धान्त को उन्होंने पूरी तरह अपनाया है। इस्लाम और ईसाई मत के अनुयायी यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते तथापि उनके मान्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र पुनर्जन्म के पोषक वचन उपलब्ध हैं। यूरोप आदि देशों के भी महान् दार्शनिक और कवि इसे अपनाये बिना न रह सके।

दार्शनिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में यूनान का स्थान सबसे ऊंचा है। विश्व के बड़े-बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक वहां हुए हैं और सभी ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अपनाया है। **प्लेटो** का प्रत्ययवाद भी इस स्थापना का साक्षी है कि 'आत्मा शरीर से पुराना है।'[१] उसके सिद्धान्तानुसार आत्मा द्रव्य होने के अविनाशी है। आत्मा इस जन्म में जो भी ज्ञान प्राप्त करता है, वस्तुतः वह पुनर्जन्मों के अनुभवों की आवृत्तिमात्र है— ज्ञान केवल स्मरणमात्र है।[२] आत्मा के बार-बार जन्म लेने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है और वह अपना चोला सदा बदलती रहती है।[२क]

प्लेटो के सुयोग्य, किन्तु प्रतिद्वन्द्वी, शिष्य **अरस्तु** (Aristotle) की मान्यता है कि आत्मा नित्य है और भौतिक शरीर से भिन्न (Something divine and immortal) है। वह समस्त जगत् का छायाचित्र (Microcosm) है जो पशु, कीट, वनस्पति, मनुष्य आदि योनियों में से गुजर कर उस योनि का अनुभव करता जाता है। यूनान के ही प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा दार्शनिक **पिथागोरस** ने लिखा है कि अविनाशी आत्मा

---

१. Complete Works of Nitcche. Vol. xvi, P. 235-225

२. Soul is a substance and therefore _Republic

३. All knowledge is rememberence.

३क. The soul has a natural strength ehich will hold out and be born many times. The soul always weaves her garment anew.

मृत्यु के अनन्तर मनुष्य या पशुयोनि में जन्म लेता है।[१] **एम्पीडोक्लीज** ने पुनर्जन्म का आधार गीता के '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' के अनुसार आत्मा के नित्यत्व को माना है। पुर्नजन्म में विश्वास के कारण ही वह मांस भोजन से भी घृणा करता था।[२]

पुनर्जन्म के सन्दर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का कहना है कि दर्शन शास्त्र को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना पड़ेगा, क्योंकि जो अनन्त (अविनाशी) है वह अनादि (अनुत्पन्न) है।[३] फ्रांस के **लैसिंग** ने तर्क दिया कि मनुष्य का स्वभावतः पापी होना (जैसा कि बाइबल मानती है) तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि पुनर्जन्म को माना जाये। अन्यथा पाप कहां से आया? यदि कहो कि ईश्वर ने मनुष्य के साथ लगा दिया तो ईश्वर भी पापी ठहरता है। काण्ट ने अपने समस्त दर्शन शास्त्र की नींव आचारशास्त्र के ऊपर रक्खी। वह कहता है—धर्म का सम्बन्ध सुख के साथ है और अधर्म का दुःख के साथ। किन्तु हम देखते हैं कि इस जगत् में दुर्जन पुरुष फलते-फूलते तथा सज्जन दुःख पाते हैं। यदि कोई न्यायकारी ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है तो वह अवश्य ही भविष्य में दुष्टों को दुःख का भोग और सज्जनों को सुख का भोग करायेगा। **स्पीनोजा, हीगल** आदि ने भी आत्मा के नित्यत्व और पुनर्जन्म को स्पष्ट स्वीकार किया है।

आधुनिक काल के महान् दार्शनिक **आइकन** (Eucken) का कहना है कि जीवन की सबसे पुष्ट व्याख्या वह है जो मनुष्य को प्राकृतिक जगत् से उठा कर परमात्मा की ओर ले जाये और यह भी बताये कि उन्नति का क्षेत्र केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है, अपितु भविष्य के जन्मों तक फैला है। काण्ट के स्वर में स्वर मिला कर **आइकन** ने भी कहा-'यदि वर्तमान जीवन में ऐसा नहीं होता तो अगले जन्म में होगा। इस सिद्धान्त की अधिक विशद व्याख्या ने कई भिन्न मान्यताओं को जन्म दिया है। ऐसी ही एक मान्यता पुनर्जन्म के

१. All things are but altered. Nothing dies and here and there the unmodied soul flies, by time or force or sickness dispossessed and lodges where it lights in man or beast.

२. Here sprang up in Empedoclese from the belief in transmigration of souls a dislike for flesh as food. _Calcatta Review Vol. vxii, P.97.

३. Melampsychosis is the only theory to Which Philosophy can hearken, since what is incorruptible is ungenerable.

सिद्धान्त की है।'[१] ईसाई लोग (और मुसलमान भी) आत्मा की उत्पत्ति तो मानते हैं किन्तु विनाश नहीं मानते। ट्रिनिटी कॉलेज कैम्ब्रिज में दर्शनशास्त्र के आचार्य प्रोफेसर **मैकटेगर्ट** ने अपनी पुस्तक 'आत्मा की अमरता और पूर्वसत्ता' में इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा– 'यदि आत्मा बनाया गया तो किस लिए बनाया गया। यदि प्रत्येक आत्मा नवीन उत्पन्न किया जाता है तो उसके उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता पड़ गई ? संसार तो उसकी उत्पत्ति से पूर्व भी चल रहा था। यदि संसार सौ वर्ष तक मेरे बिना चलता रहा तो और सौ वर्ष तक क्यों नहीं चल सकता था ?'[२] यदि आत्मा को अनन्त मानते हो तो अनादि भी मानो और आत्मा को अनादि और अनन्त मान लेने पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रारम्भ से ही अनेक आत्मायें हैं—कोई किसी से पैदा नहीं होती। तब जिस कारण वर्तमान जन्म हुआ उसी कारण से जन्मान्तर भी होंगे। यूरोप में संस्कृत के विद्वानों में सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त ईसाई मिशनरी **प्रो. मैक्समूलर** ने भी मरणोपरान्त आत्मा के सूक्ष्मशरीर के साथ एक नाड़ी के रास्ते हृदय से निकल जाने और अपने कर्मों के अनुसार अगला जन्म धारण करने की मान्यता को स्वीकार किया है।

प्रकृति के महान् कवि **वर्ड्सवर्थ** ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाल्यकाल की स्मृतियों में अमरता का संकेत' (Intimation of immortality from recollections of early childhood) में पुनर्जन्म की व्याख्या इन शब्दों में की है—'जिस प्रकार तारे छिपकर फिर निकल जाते हैं उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर कहीं दूर दूसरा जन्म धारण कर लेता है।'[३] अपनी एक और कविता 'The Primrose of the rock' में पुष्पों तथा अन्य वनस्पतियों की परिवर्तनशील

---

१. It this does not happen in the present life, then it must happen in a future life. The more detailed elaboration of this conception has struck different paths. One such path was the doctrine of transmigration of soul.

–Eucken's Essay, p:109

२. If the universe got pn without me for a hundred years, what reasons could be given for denying that it might get on without me a hundred years more.

–Human immortality andpre- existence.

३. Our birth is but a sleep and forgetting,
The soul that rises with us, our life' s star_
Hath had its setting elsewhere,
and cometh from afar.

अवस्था को देखकर वह विश्वास प्रकट करता है कि मनुष्य के जीवन में भी इसी प्रकार मुरझाने के बाद बहार आती है।[१]

टेनीसन कहता है कि 'हमें ठीक तरह भले ही याद न हो कि हम पहले कब कहां मिले किन्तु यह निश्चय है कि हम एक दूसरे से अनेक बार मिले हैं।'[२]

अमरीका के महान् दार्शनिक, सन्त तथा साहित्यकार **इमर्सन** अपना अनुभव बताते हैं–'हम अपने आपको सीढ़ियों पर खड़ा देखते हैं। बहुत–सी सीढ़ियां हमसे नीचे हैं जिन्हें हम चढ़ चुके हैं और बहुत–सी हमसे ऊपर है जिन पर हमें अभी चढ़ना है।'[३]

वर्तमान युग में इंगलैण्ड में ऋषिकल्प समझे जाने वाले **एडवर्ड कारपेन्टर** ने अपने ग्रंथ 'The drama of love and hatred - a study of human evolution and transmigration' में लिखा है कि जो मनुष्य पृथ्वी पर जन्म धारण करता है वह इस जगत् के लिएं कोई सर्वथा नवीन आत्मा नहीं होता।

आशावाद का एकमात्र आश्रय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है – इस तथ्य की भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए कविवर **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** ने लिखा – 'जब माता बच्चे को एक स्तन से हटाती है तो बच्चा चिल्लाता है, किन्तु ज्यों ही अगले क्षण वह उसे दूसरे स्तन से चिपटा लेती है वह शान्त हो जाता है'[४]

पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने से तो मृतक श्राद्ध की जड़ ही कट जाती है। शरीर से आत्मा का वियोग होने पर वह (आत्मा) अपने

---

३. Sin- blighted though we are, we too,
the reasonng soul of man,
from our oblivious winter called.
shall rise and breathe again.

२. And when we muse and brook,
And ebb into a former life,
we say, all this hath been before,
although I know in what time or place,
Methought I had often met with you.

३. We awake and find ourselves on a stair. There are stairs below us which we seem to have ascended; there are stairs above us, many a one which go upward and out of sight.

४. The child cries out when from the right breast the another takes it away, in the very next moment to find in the left one its consolation.

कर्मानुसार नई योनि को प्राप्त करके शरीर धारण कर लेता है और तदनुरूप सुख-दुःख भोगने को विवश होता है। कौन कहां गया, किसी को पता नहीं। इसीलिए कहा जाता है - सब जीते जी का नाता है। मरने के बाद कोई किसी का नहीं रहता। मृत्यु के बाद हम जो कुछ करते हैं, अपने लिये करते हैं। मृतक का उससे कोई हित नहीं होता। जो जीता है, अपने लिये जीता है। सबको अपने-अपने कर्मों का फल मिलता है।

अपनी आर्थिक विपन्नता से त्रस्त मैक्समूलर ने अपने प्रारम्भिक काल में जो कुछ लिखा वह अज्ञानमूलक था। ऋषि दयानन्द कृत 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' को पढ़ने के बाद उसके विचारों ने पलटा खाया। सन् १८८२ में उसने '**हम भारत से क्या सीख सकते हैं**' में पृष्ठ ३१६ पर 'श्राद्ध' शब्द की व्याख्या में लिखा-

'श्राद्ध शब्द अर्थपूर्ण है। इस शब्द के विषय में सबसे अधिक मनोरंजक तथ्य यह है कि यह शब्द न वेद में मिलता है और न ब्राह्मणग्रन्थों में।' अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यह शब्द काफी देर बाद प्रचलित हुआ है। 'श्राद्ध' शब्द के कई अर्थ होते हैं। वास्तव में '**श्रद्धया यत्कृतमितिश्राद्धम्**'। ऐसी स्थिति में जो लोग श्राद्ध में सपिण्डतिलकोदकदान तक सीमित समझते हैं, वे भूल करते हैं।

मैक्समूलर की 'श्राद्ध शब्द की यह व्याख्या निश्चय ही ऋषि दयानन्द के एतद्विषयक विचारों के सर्वथा अनुकूल है,' अपितु उनसे प्रेरित है।

★ ★ ★

मृत्यु को कैसे जीतें ?

प्रश्न है–मृत्यु को कैसे जीतें ? यह मृत्यु हर एक प्राणी को अपना ग्रास बनाती है चाहे वह पशु हो, पक्षी हो, जीव–जन्तु हों और चाहे मनुष्य ही हो अर्थात् किसी भी योनि का प्राणी हो, मृत्यु सभी को आती है। इससे सिद्ध होता है कि जो भी इस संसार में उत्पन्न हुआ है उसे एक दिन अवश्य ही मृत्यु के मुँह में जाना है, तो क्या इससे बचने का या इसको जीतने का कोई उपाय है ? तो दखिए इस सम्बन्ध में वेद क्या कहता है–

ओं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।

यजु०

(त्र्यम्बकं) अ, उ, म् तीन अक्षरों की लोरी देने वाले (सुगन्धिम्) यशस्वी (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टि को बढ़ाने वाले परमेश्वर की (यजामहे) हम स्तुति करें। इनकी कृपा से (उर्वारुकमिव) जैसे खरबूजा पककर (बन्धनात्) लता के सम्बन्ध से छूट जाता है वैसे ही हम भी (मृत्योः) मृत्यु के बन्धन से (मुक्षीय) छूट जावें (अमृतात्) मोक्ष से (मा) नहीं।

इस वेद मन्त्र में पहला शब्द है '**त्र्यम्बकम्**' इसका यदि विग्रह करें तो बनता है त्रि+अम्ब+क। त्रि–तीन, अम्ब–'यह अत्रि' धातु से बना है इसका अर्थ है कि आवाज। यहां आवाज का अभिप्राय लिया गया है लोरी से। त्रि का अभिप्राय अ+उ+म्+ इन तीन अक्षरों से है। जिन तीन अक्षरों से जो वात्सल्य रस को प्रवाहित करने वाली लोरी है उसे कहते हैं '**अम्ब**'। जो लोरी देने वाली है उसी माता को कहा गया है '**अम्बक।**' अर्थात् जगज्जननी माता=परमात्मा रूप माता, जो हमारे कल्याणार्थ 'ओ३म्' की लोरी देती है।

सुगन्धिम् :– यह सुगन्ध से युक्त है अर्थात् यशस्वी है। उसका यश संसार के कण–कण में समाया हुआ है। संसार का प्रत्येक (कण) पदार्थ उसके महान् यश का गायक है। संसार की रचना उसके यश की सुगन्धि को सर्वत्र पैला रही है।

पुष्टिवर्धनम् :– पुष्टि को बढ़ाने वाला। सर्वत्र व्यापक होकर प्रकृति के अणु–अणु को संयुक्त रखकर पुष्टि देनेवाला है। इसी कारण उस परमात्मा को '**पुष्टिवर्धनम्**' कहा गया है।

परमात्मा के तीन विशेषणों के पश्चात् प्रार्थना की गयी है कि खरबूजे के समान यों हमें मृत्यु से छुड़ा, परन्तु मोक्ष रूपी अमृत से नहीं। इस व्याख्या से पूर्व कुछ लिखना आवश्यक है, उसके पश्चात् व्याख्या करूंगा।

कुछ विद्वानों ने संसार को द्वन्द्वात्मक कहा है। इसमें द्वन्द्व पाये जाते हैं। द्वन्द्व अर्थात् जोड़े जैसे सुख-दुःख, लाभ-हानि, विजय-पराजय, उत्थान-पतन, मान-अपमान, उठना-गिरना इत्यादि जोड़े पाये जाते हैं। इसी प्रकार से जीवन से जन्म और मृत्यु का भी जोड़ा पाया जाता है। यह एक अनुभूत तथ्य है कि सुख बिना दुःख के नहीं और हानि का सम्बन्ध लाभ के साथ है। मान के अमृतपान के पश्चात् अपमान का विषैला घूंट भी पीना पड़ता है फिर अपमान के पश्चात् सम्मान के भी दर्शन होते हैं। हर्ष एवं शोक के समन्वित रूप के लिए यह उक्ति लोक प्रसिद्ध है :-

जहां बजते हैं नक्कारे वहां मातम भी होते हैं।

प्रत्येक को जीवन में विकास और ह्रास दोनों ही प्राप्त होते हैं। हालांकि 'डारविन' को भले ही संसार में केवल विकासवाद ही दिखाई देता हो, परन्तु वैदिक मनीषियों को विकास और ह्रास दोनों ही प्रतीत हुए हैं। उत्थान के साथ पतन भी होता है और पतन के बाद उत्थान भी होता है। इसी प्रकार जन्म के साथ मृत्यु और मृत्यु के साथ जन्म का भी सम्बन्ध है। यह नियम सृष्टि में एक शाश्वत नियम है। यदि कोई व्यक्ति उस ईश्वरीय नियम को तोड़ना भी चाहे तो भी तोड़ नहीं सकता है।

वस्तुतः हम सबको ज्ञात है कि जीवन में इन शब्दों के युगलों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस कटु सत्य का ज्ञान होते हुए भी हम जीवन के मधुर पक्षों की तो इच्छा करते हैं, लेकिन जीवन के कटु पक्ष की आकांक्षा नहीं करते। प्रत्येक प्राणी सुख की इच्छा करता है दुःख की कभी नहीं करता।

सुखं भूयात् दुःखं मा भूयात्।

व्यापारी लाभ की बात तो सुनने का इच्छुक है लेकिन हानि की बात नहीं सुनना चाहता। चुनाव में खड़ा होने वाला प्रत्येक व्यक्ति विजय की बात सुनना चाहता है, परन्तु पराजय का दुःखप्रद समाचार सुनना कोई नहीं चाहता। प्रत्येक व्यक्ति के मन में यही इच्छा होती है कि मैं जहां भी जाऊं वहां मेरा खूब मान-सम्मान आदर-सत्कार हो, उसका

कहीं भी अपमान, अनादर न हो। जीवन में सभी उत्थान चाहते हैं, भला पतन कौन चाहते हैं?

प्रत्येक व्यक्ति को अपने अनुभव से यह ज्ञान होता है कि मनुष्य पर ही सुख-दुःख दोनों आते हैं। मनुष्य ही जीवन के युग-पक्षों का उपभोक्ता है, दोनों ही परिस्थितियों से उसे गुजरना पड़ता है। सुखों की वर्षा तो मनुष्यों पर हो, तो सोचो हानि, पराजय, अपमान पतन और ह्रास कहां जाए? अन्ततोगत्वा ये भी मनुष्य को ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार उसे जन्म हुआ है तो मृत्यु ने भी आश्चर्य माना है।

दुःख, हानि, पराजय, अपमान, शोक, ह्रास, पतन और मृत्यु ये जीवन के 'कृष्ण पक्ष' के अन्तर्गत आते हैं। इनमें सबसे अधिक भयावह यदि कोई वस्तु है तो वह है मृत्यु। मृत्यु से सभी बचना चाहते हैं। मृत्यु के नाम से सभी चौंकते हैं। युवक तो एक ओर रहे, वृद्ध भी इसका नाम सुनकर बिदकते हैं। भर्तृहरि जी ने इसका सुन्दर चित्र खींचते हुए लिखा है-

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः।
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः,
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने।
अहो! जीर्णः कायस्तदपि मरणापायचकितः।।

जिस व्यक्ति की (भोग की इच्छाएं) सब निवृत्त हो चुकी हैं, जिसका कोई विशेष सम्मान नहीं रहा जिसके सब इष्टमित्र एक-एक करके चलते बने, अब केवल उसके प्राण ही उसके मित्र रह गये हैं, जब वह उठता है तो लाठी का सहारा लेकर उठता है और उसकी दोनों आंखों में अंधेरा छा जाता है, वह ऐसा व्यक्ति भी जब मृत्यु का नाम सुनता है तो चकित हो जाता है, वह मरना नहीं चाहता।

वास्तव में सभी के मन में मृत्यु का भय समाया हुआ है। हम सदा बने रहें, यही सबकी कामना है। महर्षि पतंजलि ने योगशास्त्र में पांच क्लेशों का वर्णन किया है-

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। योग २/३

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश से पांच क्लेश कहलाते हैं। ये मनुष्यों को कष्ट देते हैं इसलिए क्लेश कहलाते हैं। इन पांच क्लेशों में एक क्लेश '**अभिनिवेश**' कहलाता है, अभिनिवेश

कहते हैं मृत्यु के भय को। यह भय सारे संसार के मनुष्यों पर सवार रहता है। महर्षि पतंजलि आगे लिखते हैं-

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः

यह मृत्यु का भय पूर्व जन्म के अनुभव से प्राप्त होता है। सब प्राणियों की हमेशा इच्छा रहता है कि हम सदैव इस शरीर के साथ बने रहें, कभी मरें नहीं। ये इच्छा पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। इस मृत्यु से सारा संसार डरता है। यहां तक कि बड़े से बड़े शिक्षित और विद्वानों को भी डरता पाया गया। परन्तु आर्यों की मृत्यु से डरने की बात कहीं नहीं कही गयी। यहूदी, ईसाई, मुसलमान और नास्तिक मृत्यु के भय से भले ही डरें। परन्तु सच्चे और श्रेष्ठ आर्य को मृत्यु से भयभीत होने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ऋग्वेद का मन्त्र कहता है-

उर्वारुकमिवं बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।

त्र्यम्बकम्, सुगन्धिम् और पुष्टिवर्धनम् विशेषण के पश्चात् परमात्मा से प्रार्थना की गयी है कि हे प्रभु ऐसे छूटें, जैसे पका हुआ खरबूजा लता बंधन से छूट जाता है। खरबूजे की एक विशेषता होती है कि जब वह पक जाता है तो बेल से स्वयं ही छूट जाता है।

प्रश्न-पके हुए खरबूजे की भांति मृत्यु से कैसे छूटे, क्या उपाय अपनायें जाये, जिससे मनुष्य की यह अवस्था हो जाए?

उत्तर-यह अवस्था मनुष्य की चरम साधना है। यदि यह अवस्था मनुष्य को प्राप्त हो जाय, तो यही मृत्यु की जीत है। मृत्यु की जीत का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य को मृत्यु प्राप्त ही न हो, अपितु मृत्यु जीत का अर्थ है कि जब मनुष्य की मृत्यु हो, तो वह घबराये नहीं, उसे हंसते हुए स्वीकार करें। जीवन की यह बहुत बड़ी साधना है।

प्रश्न :- ऐसी अवस्था कैसे प्राप्त हो, ऐसे कौन से उपाय है?

उत्तर-मृत्यु का भय मनुष्यों को न सताये, शास्त्रों में इसके कुछ उपाय बतलाये हैं। इन उपायों को मनुष्य यदि हृदयंगम कर ले, तो फिर मृत्यु उसके लिए भयावह नहीं रहती। सर्वप्रथम प्रत्येक मनुष्य को अपने अन्दर बैठा लेना चाहिए आत्मा अमर है और शरीर नाशवान् है।

'वायुनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।' यजु०

शरीर में आवागमन करने वाला आत्मा अमर है और यह शरीर नाशवान् है। इस शाश्वत तथ्य को जिसने अपने मनो-मस्तिष्क में बिठा लिया, समझो वह मृत्युंजय बन गया।

कुरुक्षेत्र में महाभारत के युद्ध के समय में श्रीकृष्ण जी, अर्जुन को यही उपदेश देना चाह रहे हैं। अर्जुन पर जब अज्ञान का पर्दा मोहवश छा जाता है और युद्ध करने से इन्कार कर दिया, तब जीवन और मृत्यु के रहस्य को बतलाते हुए श्री कृष्ण जी कहते हैं–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। (गीता)

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, इसको आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता, जल बहा नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। आत्म–तत्त्व एक ऐसा तत्त्व है जो इन भूतों की शक्ति से प्रभावित नहीं हो सकता।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचिततुमर्हसि।। (गीता)

जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है। इसलिए न टलने वाले विषय में तुझे शोक नहीं करना चाहिए। आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता को हृदयंगम करने से मनुष्य मृत्यु के बंधन से ऐसे छूट जाता है जैसे पका हुआ खरबूजा बेल से। जिन्होंने इस सिद्धान्त को समझा उनके जीवन में खरबूजे वाली स्थिति चरितार्थ हो गयीं। इस स्थिति तक पहुंचने का द्वितीय उपाय है, त्याग भाव से भोग करना–

'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।।' यजु०

त्यागभाव से जीवन के पदार्थों को भोगो। परमात्मा ने हमें सब पदार्थ दिये हैं, ये सब हमारे भोग के लिए हैं। यह सृष्टि और इसके सब उपकरण जीवों के उपभोग के लिए बनाये हैं। जिन पदार्थों का आप उपभोग कर रहे हैं, वे उपभोग के लिए बनाये हैं। जिन पदार्थों का आप उपभोग कर रहे हैं, उनका उपभोग करते समय मन में पहली भावना यह स्थिर हो कि हम इन पदार्थों को मात्र भोग रहे हैं, हम इनके स्वामी नहीं हैं, इन सब वस्तुओं का स्वामी परमात्मा है। हमें ये पदार्थ केवल उपभोग को ही मिले हैं। हमें एक दिन इनका त्याग करना पड़ेगा। बस यही भाव जब मनुष्य के अंदर बैठ जायेगा, तो मृत्यु के समय उन्हें छोड़ने का मन नहीं करता है और उससे जबरदस्ती छुड़ाया जाता है जो सुख स्वतः छोड़ने में है वह ताड़ना करके छोड़ने में नहीं है।

प्रत्येक कार्य को करने से पहले मनुष्य को मानसिक रूप से तैयार

होना पड़ता है। यह मानसिक तैयारी मानो प्रत्येक कार्य की भूमिका है। जीवन के छोटे-छोटे कार्यों पर भी यही नियम लागू होता है हमें कब सोना है कब जागना है, नित्य प्रातः कृत्यों से निवृत्त होना, अध्ययन करना अथवा कोई छोटा बड़ा कार्य करना है। इसी प्रकार मानसिक तैयारी का यही नियम सर्वत्र लागू होता है। इसी प्रकार मनुष्य को मृत्यु के लिए भी मानसिक रूप से तैयार होना पड़ता है। आप कहेंगे यह विचित्र बात है अपितु यही बात सत्य है मरने की मानसिक तैयारी मानो मृत्यु का सहर्ष वरण है। जिस वस्तु को मनुष्य सहर्ष वरण करने के लिए तैयार रहता है। जब उसके स्वीकार का अवसर आता है तब उसे स्वीकार करने में अपनी विमुखता नहीं प्रकट करता है। किसी प्रकार का क्लेश नहीं अनुभव करता है अपितु प्रसन्नवदन होकर उसका स्वागत करने के लिए पूरी तरह से तैयार रहता है।

त्यागपूर्वक उपभोग के नियम को यदि कोई व्यक्ति दृढ़तापूर्वक अपना लेता है तो वह व्यक्ति मृत्यु के बंधन से इस प्रकार वास्तव में छूटता है जैसे पका हुआ खरबूजा अपनी बेल को स्वतः छोड़ देता है।

खरबूजे की भांति मृत्यु बंधन से अनायास छूटने का तीसरा उपाय है **''परमात्मा के स्वरूप को समझने का प्रयत्न''**-मनुष्य परमात्मा को सच्चे रूप में अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करें। जब मनुष्य उसके स्वरूप को भली-भांति समझ लेता है तब उन्हीं गुणों को अपने अंदर धारण करने का निश्चय करता है। ईश्वर के स्वरूप को जानने से वे सभी गुण मानव में आने लगते हैं। इसलिए मुण्डकोपनिषद् में ऋषि ने लिखा है-

''स यो हि वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'' मुण्ड० ३/२/९

जो उस परमब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर के गुणों को जानने से व्यक्ति परमात्मा बन जाता है। जीवात्मा परमात्मा के गुणों को धारण कर लेता है। जैसे :- लोहे के गोले को हम अग्नि में डाल दें, तो वह अग्निरूप हो जाता है। अर्थात् अग्नि का गुण है गर्मी। वह गर्मी या वह लालिमा लोहे के गोलक में आ जाती है, फिर उसे हाथों द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता है। लेकिन लोहे का गोलक अग्नि नहीं कहलायेगी। वह गोले का गोलक ही रहेगा। बस उसमें अग्नित्व आ जाता है। यही स्थिति जीवात्मा की होती है।

अतः वेद भगवान् के अनुसार मृत्यु से बचने का एक उपाय यह

है कि हम परमात्मा के स्वरूप को समझें। उसे हृदयंगम करने का प्रयत्न करें। प्रश्न है परमात्मा का स्वरूप क्या है? महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है–'ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है। आत्मा अमर है, शरीर नाशवान् है, जीवन में पदार्थों का त्यागपूर्वक उपयोग किया जाए, ईश्वर के स्वरूप को सच्चे अर्थों में समझा जाये और धारण किया जाये। तब मनुष्य मृत्यु से ऐसे छूट जाता है, जैसे पका हुआ खरबूजा अपनी बेल से छूट जाता है। सदा साधना से ही साध्य की प्राप्ति होती है। जब मनुष्य इन तीनों सूत्रों को दृढ़ता से अपना लेता है तो मृत्यु से निर्भीकता स्वयंमेव प्राप्त हो जाती है। मंत्र में अगले दो वाक्य आते हैं–"**मा अमृतात्**" अर्थात् अमृत से नहीं। ईश्वर भक्त परमात्मा से यह प्रार्थना कर रहा है कि मुझे खरबूजे की भांति मृत्यु से छुड़ा दो, परन्तु अमृत से नहीं। 'यह अमृत क्या है।' यह वही अमृत है जिसे हर प्राणी को प्राप्त करने की लालसा रहती है अर्थात्–मोक्ष। जब तक प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी तब तक यह जीवात्मा नाना प्रकार के शरीरों को धारण करके (अपने–अपने कर्मों के अनुसार) आता रहेगा और मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा और मृत्यु को प्राप्त होगा रहेगा। मोक्ष में जीवात्मा चहुं ओर विचरण करता रहता है और बिना किसी रुकावट के स्वतन्त्र विचरता है तथा परमात्मा के अनन्त आनन्द को प्राप्त करता रहता है। इसलिए मोक्ष को सर्वतोमुखी समझकर उससे न छूटने और मृत्यु के बंधन से छूटने की प्रार्थना की गई है। अंत में हम पूरे विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि जो व्यक्ति इस मंत्र का सच्चे हृदय के साथ जप करता है और उपर्युक्त साधनों को ठीक ढंग से अपना लेता है, वह मनुष्य मृत्युजंय बन जाता है अर्थात् अपनी मृत्यु को भी जीत लेता है।

जीवन और मृत्यु

कठोपनिषद् की पहली वल्ली हमारा परिचय 'यम' और 'नचिकेता' से कराती है। 'यम' 'नचिकेता' को तीन वर प्रदान करना स्वीकार करता है। तीसरा और अन्तिम वर जो नचिकेता मांगता है, वह यह है–

'कुछ लोग कहते हैं–मृत्यु के पीछे आत्मा का अस्तित्व बना रहता है; कुछ अन्य कहते हैं, अस्तित्व बना नहीं रहता। मुझे बताओ कि सत्य क्या है ? यम ने नचिकेता को इस कठिन प्रश्न का उत्तर मांगने के स्थान पर कोई अन्य वर मांगने की प्रेरणा की, परन्तु नचिकेता अपनी बात पर स्थिर रहा, क्योंकि यह प्रश्न ही प्रश्नों का प्रश्न है, और इसके उत्तर के लिए 'यम' से अच्छा कोई शिक्षक भी मिल सकता।

नचिकेता का अर्थ है–'न जानने वाला।' हम सबका ज्ञान सीमित ही होता है। कुछ लोगों में अधिक जानने की इच्छा बहुत प्रबल होती है। नचिकेता ऐसे लोगों में था। वह सच्चा जिज्ञासु था। आत्मा के अमर होने–न होने की बाबत पूछना हो तो किससे पूछे ? नचिकेता के विचार में 'यम' से बढ़कर इस प्रश्न का उत्तरदाता कोई नहीं। इसका अर्थ यह है कि प्रश्न के उत्तर के लिए हमें मृत्यु के तत्त्व को समझना चाहिए। मृत्यु क्या है ? विनाश है, अथवा परिवर्तन है ?

सापेक्षता

मृत्यु और जीवन सापेक्ष शब्द है। साधारण मनुष्य कहता है–जहां जीवन है, वहां मृत्यु नहीं; जहां मृत्यु है, वहां जीवन नहीं। यदि ऐसा ही हो, तो भी नचिकेता का प्रश्न तो बना रहता है। जीवन के बाद मौत आती है। मौत के बाद भी जीवन होता है वा नहीं होता ? जीवन जन्म के साथ आरम्भ होता है। जन्म से पूर्व भी कोई मृत्यु हुई है वा यह निपेक्ष आरम्भ है ? हम जीवन को स्वतन्त्र कहीं नहीं देखते। प्राकृत पदार्थों में, कुछ जीवित दीखते हैं और कुछ जड़। जीवित पदार्थों में कुछ चेतन प्रतीत होते हैं और कुछ अचेतन। जड़, जीवित और चेतन–तीनों प्रकार के पदार्थों को अलग–अलग देखें। पृथिवी पर जो जीवन है, वह इसकी सतह पर ही है। सतह पर भी जीवित पदार्थ प्रकृति का बहुत थोड़ा अंश है। जड़ प्रकति की बाबत हम क्या देखते हैं ? दो बातें प्रमुख रूप में हमें दीखती हैं–(१) पदार्थों की विभिन्नता, (२) परिवर्तन की व्यापकता। कहीं स्थिरता दिखाई नहीं देती। प्रतीत तो ऐसा होता है कि छोटे मोटे

पदार्थों में गति होती है, और पृथिवी खड़ी है। मैं मकान के बरांडे में बैठा लिख रहा हूं। पिछले घण्टे में, सूर्य के गिर्द चक्कर लगाते हुए पृथिवी अपने साथ मुझे भी आकाश में ६०,००० मील आगे ले गई है। मेरे शरीर का प्रत्येक परमाणु इतनी तेज गति से घूम रहा है जिसकी जांच कल्पना की शक्ति से परे है। पहाड़ों को '**अचल**' कहते हैं। वह भी प्रतिक्षण बनते और टूटते हैं। मुझे एक कल्पित प्रदर्शनी की बाबत पता लगा, जहां संसार में होने वाले परिवर्तन छोटे पैमाने पर दिखाए जा रहे हैं। मैं वहां पहुंचा और देखा कि एक ही प्रकार के परमाणुओं से मिट्टी, सोना, चाँदी, पृथिवियाँ, सूर्य, चाँद, सितारे बन रहे हैं। मैंने इधर-उधर घूमकर सारी प्रदर्शनी को देखा, परन्तु 'उत्पत्ति' और 'विनाश' को कहीं न देखा। बीच में, एक बड़े तख्ते पर लिखा था-

'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः।।

'जिसका अस्तित्व नहीं, उसका होना असम्भव है, जिसकी सत्ता है उसका अभाव नहीं हो सकता। तत्त्व जाननेवाले ज्ञानी पुरुषों ने इन दोनों में यही भेद निश्चित किया है।' आजकल विज्ञान का युग है। विज्ञान परिवर्तन को जानता है, 'उत्पत्ति' और 'विनाश' को नहीं जानता।

मनुष्य की आयु

अब संसार के दूसरे भाग, जीवित पदार्थों को लें। मेरा अपना कोई मित्र पूछता है-'कितनी आयु है?' मैं कहता हूं-'जो बीत गयी है, उसकी बाबत पूछते हो, वा जो बाकी रहती है?' जो बीत गयी है, वह तो बीत ही गयी है, जो बाकी है, उसका कुछ पता नहीं। भूत और भविष्य के मध्य में वर्तमान तो एक बिन्दु है, जिसका कोई आकार नहीं।

वास्तव में मेरे शारीरिक जीवन की कथा क्या है? यह जीवन एक घटक से आरम्भ हुआ। एक घटक से दो बने, दो से चार, चार से आठ और यह क्रम जारी है। परन्तु यही होता, तो संसार में मेरा शरीर ही होता, अन्य किसी पदार्थ के लिए स्थान ही न रहता। जब से शरीर का बनना आरम्भ हुआ, शरीर का टूटना भी जारी है। स्नान के समय जब मैं पांव धोता हूं तो अगणित घटक जो मर चुके हैं, पांव से अलग करता हूं। शरीर की हालत में जीवन और मृत्यु ऐसे मिले हैं कि दोनों में भेद करना ही कठिन है। मृत शरीर सड़ने लगता है। दूसरी ओर से देखें, तो अगणित कीड़े उसमें प्रकट होने लगते हैं। बकरी घास को खाती है,

समय आने पर वह घास की खुराक बनती है। इसलिए उपनिषद् में कहा है–**जीवन मृत्यु ही है।**

जो कुछ जड़ पदार्थों की प्रदर्शनी में देखा था, वही जीवित पदार्थों की हालत में दीखता है। परिवर्तन तो हर ओर दिखाई देता है, विनाश का कहीं पता नहीं चलता।

जीवन के प्रमुख चिह्न

नचिकेता को तो भूलने लगे थे। अब उसके साथ, यम से पूछें कि आत्मा अमर है, वा मृत्यु के साथ इसका भी विनाश हो जाता है? ऊपर जो कुछ कहा है, वह नचिकेता के प्रश्न से असंगत तो नहीं, पर उसके प्रश्न का उत्तर भी नहीं। जीवन प्रकृति और आत्मा के मध्य में है। जीवन के प्रमुख चिह्न क्या हैं?

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है–

'प्राणो वा उक्थं' (जीवन पढ़ने का नाम है।)

'प्राणो वै यजुः' (जीवन संगठन का नाम है।)

'प्राणो वै साम' (जीवन आपमें विलीन कर लेने, अपने समान बना लेने का नाम है।)

'प्राणो वै क्षत्रं' (जीवन अपनी रक्षा करने, मृत्यु से युद्ध करने का नाम है।)

ये चारों चिह्न जड़ पदार्थों में नहीं पाए जाते, आत्मा में पाये जाते हैं; किन्तु आत्मा में, इनके साथ, चेतना भी पायी जाती है, जो वृक्षों और वनस्पतियों में नहीं पायी जाती। जीवन के स्वरूप की बाबत मतभेद है। कुछ लोग इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, कुछ इसे प्रकृति की गति का परिणाम बताते हैं; और कुछ इसे नीचे घसीटने के स्थान पर, ऊपर उठाते हैं और आत्मा का एक प्रकटन समझते हैं।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा के अमरत्व का प्रश्न केन्द्रीय प्रश्न है। इसे दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक दृष्टिकोणों से विचारा जा सकता है। 'दर्शन के लिए प्रश्न यह है कि आत्मा द्रव्य है, वा केवल प्रकटन है? बौद्धों का ख्याल था कि केवल ज्ञानधारा का अस्तित्व है; इसके अतिरिक्त कोई ज्ञानी नहीं। धारा अस्थिरता वा परिवर्तन की मूर्ति है। परिवर्तन निरा बहुत्व नहीं; इस बहुत्व के नीचे एकता का होना आवश्यक है। जैसा

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक **कांट** ने कहा, 'किसी नित्य वस्तु में ही परिवर्तन हो सकता है।' जहाँ तक हम देख सकते हैं, मृत्यु विच्छेद ही है, और विच्छेद मिश्रित पदार्थ का ही हो सकता है। आत्मा मिश्रित पदार्थ नहीं; इसलिए इसके विच्छेद का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा अमिश्रित द्रव्य है, इसलिए अमर है।

मानसिक जीवन

मनोविज्ञान वास्तव में प्रकटनों का ही अध्ययन करता है। मानसिक जीवन के दो भाग हैं–एक वृत्तियां जो प्रतिक्षण बदलती रहती हैं और दूसरा वह संस्कार जिसे ये वृत्तियां अपने पीछे छोड़ जाती हैं। जिस बच्चे को बार–बार भयभीत किया जाये, व कायर बन जाता है। कायरता कोई वृत्ति–विशेष नहीं, यह एक सुझाव है, जो विशेष अनुभवों का परिणाम है। ये संस्कार कैसे बनते हैं? साधारण अनुभव हमें बता देता है कि कुछ संस्कार वर्तमान जीवन में नहीं बनते, अपितु इसके साथ आते हैं। एक बच्चा ४–५ वर्ष की आयु में अपूर्व रोगी बन जाता है, दूसरा गणित में करतब करके लोगों को चकित कर देता है। कवि 'पहली भेंट के प्रेम' का वर्णन करते हैं। इन अनुभवों और इन जैसे अन्य अनुभवों का एक समाधान यह है कि सारे संस्कार एक रीति से बने हैं। जो संस्कार हम वर्तमान जन्म के साथ लाये हैं, वह हमारे पूर्वजन्मों में बने थे। विज्ञान विश्वास करता है कि कोई कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता। जन्मजात संस्कार अकारण वा हेतुरहित नहीं हो सकते। समाधान के सम्बन्ध में विज्ञान इस नियम पर चलता है कि जहां एक समाधान से काम चल सके, वहां एक से अधिक समाधानों के पीछे भागना नहीं चाहिए; जहाँ सरल समाधान से काम चल सके, वहाँ असरल समाधान का ख्याल नहीं करना चाहिए।

श्रेय और प्रेय

आजकल आत्मा के अमरत्व के सम्बन्ध में प्रायः नीति से पूछा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कठ उपनिषद् के रचयिता का विचार भी ऐसा ही था। पहली वल्ली के अन्त में 'यम' ने नचिकेता को इस विषय में बताना स्वीकार कर लिया। दूसरी वल्ली का आरम्भ यों होता है—

'श्रेय' (धर्म का मार्ग) एक वस्तु है, और प्रेय (भोग का मार्ग)

दूसरी वस्तु है। ये दोनों दो विभिन्न उद्देश्यों को रखते हुए, मनुष्य को बाँधते हैं। जो मनुष्य श्रेय को ग्रहण करता है, उसका कल्याण होता है, जो प्रेय को ग्रहण करता है, वह अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं करता।

इसे पढ़कर पहले तो ख्याल आता है कि प्रश्न आत्मा के अमर होने की बाबत था, और उत्तर में यम ने एक असंगत विषय—श्रेय और प्रेय—पर कहना आरम्भ कर दिया है। विचार करने पर पता लगता है कि यह विषय प्रश्न में असंगत नहीं। आत्मा का अमरत्व नीति के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है। यदि श्रेय और प्रेय में कोई भेद नहीं; तो मनुष्य और अन्य चेतन प्राणियों में कोई भेद नहीं। सारे अपनी प्रकृति से विवश, प्रेय के पीछे तो भागते ही हैं। यदि मनुष्य अपने लिए आदर्श बना सकता है, और उन आदर्शों की पूर्ति के लिए यत्न कर सकता है, तो वह पशु-पक्षियों से ऊँचे स्तर पर है। श्रेय का ध्यान और उसकी भक्ति मनुष्य को पाशविक स्तर से उठाकर नैतिक स्तर पर ले जाती है। आधुनिक काल में दार्शनिक **कांट** का दृष्टिकोण कठ के दृष्टिकोण से मिलता है। कांट के विचार में आत्मा के अमरत्व का प्रश्न नीति से बंधा है। हमारा नैतिक बोध हमारे समक्ष एक आदर्श रखता है। यह आदर्श 'सम्पूर्णता' है। हमारे लिए दो ही मार्ग हैं—या तो हम नैतिक बोध को भ्रम मान लें और आदर्शों की ओर से विमुख हो जायें; या इस बोध की आवाज को तथ्य स्वीकार करें। दूसरी हालत में, हमें यह मानना होता है कि आदर्श की सिद्धि के लिए हम आवश्यक शक्ति रखते हैं और इसके लिए हमें पर्याप्त समय मिलता है। यदि हम स्वाधीन नहीं, तो आदर्श-बोध एक मजाक है। कांट के शब्दों में, 'तुम्हें करना चाहिए, इसलिए तुम कर सकते हो।' जहाँ तक अवकाश का सम्बन्ध है, कांट कहता है कि हमारे लिए करने का काम अनन्त है। इसलिए, इसके लिए समय भी अनन्त मिलना चाहिए। इस तरह, कांट आत्मा की स्वाधीनता और इसके अमरत्व को नैतिक बोध में निहित देखता है। कठ उपनिषद् में 'यम' भी नीति से आरम्भ करके, इस आत्मा के अमरत्व तक जा पहुंचता है।

जीवन-यात्रा

जीवन-यात्रा की पूर्णतया प्रगति ही नहीं होती। कभी हम ठीक चलते हैं, कभी इधर-उधर भटकते हैं, कभी ऊपर चढ़ते हैं, कभी नीचे गिरते हैं। प्राकृत जगत् में कारण-कार्य का नियम व्यापक है, नैतिक जीवन में कर्म का नियम व्यापक है। जो कुछ हम बोते हैं, वही काटना

होता है। संसार में नैतिक नियम का राज्य है, परमात्मा इस नियम का नियन्ता है, मुसलमान और ईसाई नैतिक नियम की व्यापकता को स्वीकार करते हैं, और इसी नींव पर आत्मा के अमरत्व को मानते हैं। परन्तु उनमें विश्वास में दो बातें साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आती। वे यह मानते हैं कि कर्मयोनि एक ही है, और इसके फल के भोगने के लिये अनन्त काल तक स्वर्ग या नरक में रहना होगा। यदि कर्म करने का अवसर मिला है तो कोई कारण नहीं कि यह अवसर इतना सीमित हो। और यदि इतना सीमित है, तो इसका फल भी इसके अनुसार सीमित होना चाहिए। दूसरी कठिनाई इन मतों में यह है कि ये एक ओर होते हैं, दूसरी ओर नहीं देखते। यह तो मानते हैं कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल मिलना न्याय की मांग है। जब वही न्याय यह मांग करता है कि जिन भेदों के साथ यह जन्म आरम्भ होता है, उनका भी कोई कारण होना चाहिये, तो इस माँग की ओर ध्यान नहीं देते। श्री ईसा के जीवन में एक अवसर पर यह कठिनाई अपने पूरे जोर से उनके सामने आई। एक जन्म का अन्धा उनके पास लाया गया। कुछ लोगों ने उनसे पूछा, 'यह अन्धा अपने बुरे कर्मों का फल भोग रहा है वा अपने माता-पिता के कर्मों का? श्री ईसा यह नहीं कह सकते थे कि उसका अन्धा पैदा होना उसके कर्मों का फल है, क्योंकि वह पुनर्जन्म में विश्वास न करते थे। वे यह भी न कह सकते थे कि वह माता-पिता के कुकर्मों के कारण अन्धा पैदा हुआ है, क्योंकि ऐसी व्यवस्था न्याय के प्रतिकूल है। उन्होंने इतना ही कहा कि उसका अन्धापन न उसके अपने कर्मों का फल था; न उसके माता-पिता के कर्मों का फल था; यह तो परमात्मा के महत्त्व को दिखाने के लिए हुआ। इसका अभिप्राय यही है कि श्री ईसा के पास ऐसी घटना का कोई समाधान न था। ऐसी घटना में न्याय का राज्य है, तो पूर्वजन्मों का मानना भी आवश्यक हो जाता है। नवीन दार्शनिकों में **मेक्टेगार्ट** आस्तिक नहीं, किन्तु वर्तमान जन्म को दोनों ओर फैलने वाली जंजीर की एक कड़ी समझता है। इसका अर्थ यह है कि धर्म को एक ओर रखें और केवल नीति पर ध्यान जमायें, तो भी आत्मा का अमरत्व पक्की नीवों पर आलम्बित दिखाई देता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ठीक कहा- '**आत्मा न कभी पैदा होता है, न मरता है। यह अजन्मा है, अनादि है, शरीर के टूट-फूट जाने पर भी इसका नाश नहीं होता।**'